UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180318
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1 B57H Accession No. P. G. H646

Author भट्ट, नानाभाई

Title हिन्दू धर्म की आख्यायिकायें 1947.

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दू-धर्म की आख्यायिकायें

(पहला भाग)

लेखक

आचार्य श्री नानाभाई भट्ट

अनुवादक

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

हुसैनीअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

१९४७

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

जनवरी १९४७

मूल्य

डेढ़ रुपया

मुद्रक

देवी प्रसाद शर्मा

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस

नई दिल्ली

विषय-सूची

बड़े भैया के चरणों म

काका की प्रस्तावना

१. आरुणि १

२. उपमन्यु ८

३. विजय किसकी ? १९

४. ब्रह्मा का गर्व २५

५. हंसकाकीयम् २९

६. समुद्र-मंथन ३५

७. सच्चा यज्ञ ४२

८. 'मृदूनि कुसुमादपि' ५३

९. गृहस्थाश्रम बड़ा या संन्यासाश्रम ? ५६

१०. 'नरो वा कुंजरो वा' ७०

११. विदेही जनक ७९

१२. छोटे भाई—बड़े भाई ९०

१३. यक्ष-युधिष्ठिर १०२

१४. भगवान के नाम पर १०९

१५. गंगावतरण १२३

१६. वीरभद्र १३५

बड़ेभैया के चरणों में

स्वर्गीय हरगोविन्द अजरामर पंड्या दक्षिणामूर्त्ति के 'मोटाभाई' यानी बड़ेभैया थे। उनकी एकनिष्ठा और तपश्चर्या से आज दक्षिणामूर्त्ति की जड़ें इतनी गहरी पैठ सकी हैं। भावनगर-जैसे एक स्टेशन के स्टेशन-मास्टर ने किसी शिक्षण-संस्था के पीछे अपना तन-मन लुटा दिया हो, इसकी कोई मिसाल गुजरात-काठियावाड़ में जानी सुनी नहीं। बड़ेभैया का उच्च जीवन आज भी दक्षिणामूर्त्ति के मेरे समान खलासियों के लिए काली, अँधेरी बादलों से घिरी रात में मार्ग-दर्शक बनता है, और जब पहाड़-सी ऊँची लहरें उछलती होती हैं, तब भी नौका को कोई हानि नहीं पहुँचने देता।

"ये मोटाभाई सम्वत् १६८० की आषाढ़ बदी एकादशी के दिन विदेह हुए। उस समय मैं अफ्रीका में था, इसलिए उनके बिछोह के दुःख को पचा जाने की श्रद्धा आज, अभी तक भी, मुझ में नहीं आई है। इन मोटाभाई के स्मरण में व्यवस्थापक-मण्डल ने प्रतिवर्ष एक पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय किया है, और पहली पुस्तक लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। पूज्य मोटाभाई के चरणों में मेरी यह नम्र अंजलि है।

मोटाभाई ने मुझे नाना भाई* बनाया। सगी माँ के पेट से जन्मे बड़ेभाई का जैसा स्नेह नहीं चखा, वैसा स्नेह उनका चखा है। अन्तरंग मित्रों के साथ जो बातें नहीं कीं, वे उनके साथ की हैं। मन से माने सद्गुरु से जितना नहीं सीखा, उतना उनसे सीखा है। इस महान् ऋण की स्मृति में यह पुस्तक मोटाभाई के चरणों में अर्पित करता हूँ।

हम दोनों गुरुभाई थे। एक ही गुरु के अन्तेवास का साथ-साथ

---

* छोटा भाई

सेवन किया था; एक ही गुरु के चरण पलोटने को अपने जीवन का परम ध्येय माना था; एक ही गुरु की आज्ञा से दक्षिणामूर्त्ति की उपासना शुरू की थी। किंतु काल बदला; सारे संसार के समस्त गुरुत्व का पुराना आदर्श नये स्वरूप में खड़ा हुआ, और हमारे बाह्य मार्ग बदल गये। फिर भी मोटाभाई से तो मुझे और दक्षिणामूर्त्ति को वही 'हूँफ' वही सुवास, वही वात्सल्य और वही मिठास अन्त तक मिलती रही है, इन सब के स्मरण-मात्र से भी मैं पावन होता हूँ; दक्षिणामूर्त्ति भी पावन होती हैं।

इन आख्यायिकाओं के मूल समस्त हिन्दू धर्म की जो आध्यात्मिक दृष्टि रही है, उसकी एक झाँकी मैंने मोटाभाई के जीवन में की थी, एक झलक देखी थी, इसीलिए इस माला की पहली पुस्तक के रूप में इसे पसन्द किया है। वे गृहस्थ थे, पर साधुओं का-सा जीवन बिताते थे; उनके अतिथि सत्कार का जोड़ा शायद समूचे भावनगर में भी न मिलता; उनकी प्रभु-परायणता रेलवे में सर्वत्र प्रसिद्ध है; उनकी गुरु-भक्ति का आसन तो आज भी गुरु के आश्रम में खाली ही पड़ा है; उनकी निर्भयता और आज्ञाधीनता की साक्षी उनके उच्चाधिकारी देते हैं—इन सब की जड़ में उनकी मुमुक्षा—जीवन का कल्याण साधने की उनकी उग्रता—काम कर रही थी।

मोटाभाई के जीवन में जिसकी झलक मैंने देखी है, उस हिन्दू-धर्म की इन आख्यायिकाओं में मैं उन्हीं के चरणों में चढ़ाता हूँ।

इन पंक्तियों को लिखते समय मेरे अन्तःकरण में बैठा कोई मुझसे कह रहा है—"तुझ पर और दक्षिणामूर्त्ति पर मोटाभाई अशीर्वाद निरन्तर बरसाते ही रहेंगे।" प्रभो! हमें सद्बुद्धि दो।

नानाभाई

काका की प्रस्तावना

धार्मिक शिक्षा और धार्मिक वाचन का प्रश्न जोर पकड़ता जा रहा है। हिन्दू समाज में पुराण-श्रवण और लोक-गीत का गान, दो पुराने साधन थे, जिन्हें हमने अपनी लापरवाही से मिटा डाला है। अब शिक्षा-विभाग के ढंग पर समाज को संस्कारवान् बनाना ज़रूरी हो गया है। लोगों की अभिरुचि भी बहुत बदल गई है। अब जनता को सादगी की अपेक्षा चतुराई ज्यादा पसन्द पड़ती है, और मेहनत बचाने का रास्ता ढूँढ़ निकालना आज के इस ज़माने का पुरुषार्थ माना जाता है। व्यर्थ की मेहनत अवश्य टाली जानी चाहिए। किन्तु सब तरह की मेहनत को टालने में, उससे जी चुराने में, तो झुठाई ही भरी है। और आश्चर्य की बात यह है कि मेहनत बचाने के अपने इस महान् प्रयास में हमने दुनिया के अन्दर असंख्य झंझटें बढ़ा दी हैं, और हम हैं कि उनके प्रपंच से उबर नहीं पाते। ज़माने का ज़ोर इतना अधिक है कि अच्छे-अच्छों को उसमें बहना पड़ता है।

श्री वेदव्यास ने सरल-से-सरल संस्कृत भाषा का उपयोग करके कठिन विषयों को भी हाथ के आँवले की तरह सुलभ बनाया और महाभारत की रचना की। उसमें उन्होंने लोक-कवि और लोक-शिक्षक की अपनी सारी कला खर्च कर डाली, और एक ऐसी विशाल पाठ्य-पुस्तक लिखी जिसमें शिक्षा के सभी विषयों का समावेश हो सके। जो संस्कृत जानता है, वह अधिक-से-अधिक तीन वर्ष बिता कर इस पाठ्य पुस्तक द्वारा अपनी शिक्षा पूर्ण कर सकता है, और बहुश्रुत की उपाधि प्राप्त कर सकता है। अनेक विद्वानों ने इस पाठ्यपुस्तक की जाँच करके इस पर अपनी यह सम्मति दी है—"अक्षरों द्वारा दिया जा सकने वाला सभी विषयों का ज्ञान इसमें आ गया है। इसके बाहर

कहीं कुछ नहीं है। **व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।** जो महाभारत में नहीं, वह दुनिया में नहीं।" फिर भी हम इस महाभारत को पढ़ नहीं सकते। आज के ज़माने के खयाल से यह पाठ्यपुस्तक न सुलभ मानी जायगी, और न कोई इसे सम्पूर्ण कहेगा। तिस पर भी इसकी उपयोगिता तो बहुत ही है। चरित्रगठन, धर्मज्ञान और सामाजिक सद्गुणों की शिक्षा के लिए रामायण-महाभारत से बढ़कर कोई पुस्तक हमें मिलनी मुश्किल है। इसी कारण हिन्दुस्तान के कवियों और धर्म-प्रचारकों ने इन दो ग्रन्थों की शरण ली है, और आगे भी लेंगे।

श्री नानाभाई सनातनधर्म के शुभ संस्कारों में पले हैं और राष्ट्रीय शिक्षा के व्रती हैं। यदि उनकी दृष्टि महाभारत पर पड़ती है, तो इसमें आश्चर्य क्या? दक्षिणामूर्त्ति के अपने छात्रों और छात्राओं के लिए महाभारत से कथा-रत्न बीन-बीन कर उन्होंने उनका एक उत्तम हार तैयार किया है, और वही गुजरात के समस्त बालकों को वे इस पुस्तक द्वारा दे रहे हैं।

इन आख्यायिकाओं की शैली सहज ही हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है। हिन्दुस्तान में पारसियों का स्वागत करते हुए जिस तरह यहाँ के हिन्दू राजाओं ने उन्हें कुछ मर्यादायें सुझाई थीं; और कहा था—"इन मर्यादाओं का पालन करने पर ही आप इस राज्य के प्रजाजन बन सकेंगे।" उसी तरह महाभारत-काल की वार्त्ताओं—कथाओं से लेखक ने कहा है—"यदि तुम्हें आज की बाल दुनिया में प्रवेश करना हो, तो तुम्हें उस बाल-दुनिया का वेश धारण करना होगा, और भाषा भी बाल-दुनिया की ही बोलनी पड़ेगी।" इन कथाओं के लिए यह रूपान्तर कठिन था। किन्तु जिन्होंने नाना प्रकार के बालकों को शिक्षित करने की शक्ति प्राप्त की है, वे पौराणिक कथा-वार्त्ता को भी

नया रूप देना जानते हैं; इसी कारण बालकों को इन आख्यायिकाओं में अपना ही वातावरण मिलेगा। और वैसा होने पर उनमें इन आख्यायिकाओं का वातावरण भी अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ प्रविष्ट हो जायगा। बालकों के प्रति समभाव दक्षिणामूर्त्ति की विशेषता है। यह विशेषता इन आख्यायिकाओं में भी पूरी-पूरी व्यक्त हुई है। अतएव ये आख्यायिकायें न केवल बालकों का मन हर लेंगी, बल्कि चरित्रगठन में भी उनकी बहुत सहायक सिद्ध होंगी।

नानाभाई ने धार्मिक वाचन के प्रश्न को अपने हाथ में लिया ही है, अतएव अब उनको ऐसी दूसरी पुस्तकें भी तैयार करनी चाहिए, यों तो, अनुकरण के इस युग में एक नमूना पेश कर देना भी पर्याप्त है।

काका कालेलकर

हिन्दू-धर्म की आख्यायिकाएँ

: १ :

आरुणि

धौम्य नाम के एक ऋषि थे। एक सुन्दर नदी के तट पर उनका आश्रम था। आश्रम में चार-पाँच सौ शिष्य रहते, और गुरु के पास वेदाध्ययन करते।

प्रतिदिन प्रातः गुरु की पर्णकुटी से 'स्वाहा, न मम' के घोष उठते, और अन्तरतर के पापों को हरनेवाला सुगन्धी धुआँ छप्परों में से बल खाता, गुछलियाँ बनाता, ऊपर आकाश में चढ़ जाता। प्रतिदिन सवेरे आश्रम के वृक्षों पर झूलनेवाले पक्षी अपने कलरव से सारे आश्रम को भर देते। प्रतिदिन प्रातः कुछ शिष्य पर्णकुटियों में वेदोच्चार करते, कुछ पेड़-पौधों को पानी सीचते, कुछ अर्घ्य-प्रदान के लिए फूल चुनते, कुछ गायें दुहते, तो कुछ खेतों की क्यारियों को पानी पिलाते, कुछ आश्रम के रास्तों को साफ़ करते, तो कुछ वृक्ष की छाया में ध्यानमग्न बैठे होते। प्रतिदिन प्रातः पर्णकुटी के चबूतरे पर बैठकर ऋषिपत्नी हरिणों को दर्भ और दूर्वा खिलाती और कुदातीं।

एक बार गुरु के आँगन में सभी बैठे थे। शास्त्र के और जीवन के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर जमकर चर्चा हो रही थी। गुरु ने अपने सामने बैठे शिष्यों को एक नज़र देखा। फिर देखा, और एकाध भेड़

के न मिलने पर गड़रिया जिस आकुल भाव से उसे ढूँढ़ता है, वैसी ही आतुरता से धौम्य ने पूछा—"आज आरुणि क्यों नहीं दीखता ?"

आरुणि पांचाल देश का निवासी था। प्रायः बीस वर्ष से वह गुरुकुल में ही रहता था। शास्त्र के अनेक पोथे पढ़-पढ़कर वह थक चुका था, इसीलिए तो वह आश्रम मे आकर रहा था। अपने आने के दिन से ही उसने गुरु की सेवा को मुख्य वस्तु माना था, और उस सेवा में ही उसे जीवन की परम शान्ति मिली थी। गुरु को स्नान कराना, उनके कपड़े धोना, उनकी पर्णकुटी साफ़ करना, होम की सामग्री जुटा देना, गुरु का बिछौना बिछा देना, उनके पैर दबाना, यही सब आरुणि का काम था। उसके विचार में गुरु के जीवन की छोटी-छोटी बातों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसने उनका मर्म समझ लिया था, और उस जीवन में ही उसे मानव-जीवन की ऊँची से ऊँची शिक्षा का अनुभव प्राप्त होता था। गुरु के पाँव पलोटने में अपनी देह को खपा देना उसके मन का सच्चा आत्म-दर्शन था।

गुरु की सेवा से जो समय बचता, उसमें आरुणि दूसरे गुरुभाइयों का काम बड़े प्रेम से कर दिया करता। किसी की क्यारियों को पानी पिला देता, किसी की पर्णकुटी बुहार देता, किसी की शय्या के पास बैठकर जागरण करता, तो किसी के बल्कल साँध देता। कई शिष्य ऐसे होते, जो अपने अध्ययन में आगे बढ़ने के लोभ से अपना काम आरुणि से ही करवा लिया करते, और समझते कि बात-बात में ख़ूब काम करवा लिया।

गुरु ने पूछा—"आरुणि क्यों नहीं दीखता ?"

"सो गया होगा।" एक ने कहा।

"बछड़ों को बाँधता होगा।" दूसरा बोला।

"वह.........खेत में खड़ा पक्षियों को उड़ा रहा है। उसे कौन अध्ययन करना है? ये कोई अध्ययन करनेवाले के लक्षण हैं? बीस बरस हो गये, अभी तक एक वल्ली भी तो पूरी याद नहीं हुई।"

"वह बेचारा न जाने क्यों यहाँ आ फँसा है? उसकी सामर्थ्य क्या? जब आप वेद का रहस्य समझाते हैं, तब हमारी बुद्धि भी काम नही करती, तो फिर बेचारे आरुणि की क्या बिसात है?" एक वेदपाठी ने दया दरसाते हुए कहा।

धौम्य ने सब बातें शान्ति-पूर्वक सुन लीं। क्षण-भर के लिए उन्होंने अपने मन को अन्तर्मुख किया और फिर बोले--"जब उसे आना होगा, आ जायगा। हम अपना काम करें।"

अभी चर्चा चल ही रही थी कि इतने में एकाएक बादल घिर आये, आकाश घना हो उठा, बिजली कौंधने लगी, और कान के परदों को चीर डालनेवाली गड़गड़ाहट शुरू हो गई।

"गुरुजी! देखिये, पानी तो यह आया!"

"अरे हाँ, यह आ ही गया!"

"वह देखिये, खेत दीखना बन्द हो गया! और वह बदली वहाँ बरस पड़ी।"

"यह आया। देखिये, अब तो पेड़ भी नही दीखते।"

गुरु ने कहा--"सब मेरी पर्णकुटी में चले जाओ।"

और, अचानक मूसलधार पानी बरसने लगा। जैसे आकाश में किसी ने छेद कर दिया! पानी कहीं समाता न था। ऐसा लगता था, मानो आकाश समूचा बरस पड़ेगा! आश्रम में पानी ही पानी हो गया।

"अपने खेत का नया बाँध टूट जायगा, और खेत में बोई फसल सब बह जायगी। उस बाँध को अच्छी तरह पक्का कर देना चाहिए।" गुरु ने शिष्यों पर दृष्टि डालते हुए कहा।

"जी, मैंने बल्कल सुखाने डाला है, सो ज़रा देख आऊँ। कहीं उड़ न गया हो।" एक रवाना हुआ।

"गुरुजी! मेरी पर्णकुटी में पानी टपकता था।" दूसरा गया।

"मेरी ऋचा थोड़ी कच्ची रह गई है, इसे पक्की कर लूँ।" कहकर तीसरा उठा और चल दिया।

इस तरह एक-के-बाद-एक लगभग सभी चले गये।

इतने में हाँफता-हाँफता आरुणि आया—"जी, खेत का बाँध अब टूटूँतबटूटूँ हो रहा है। आपकी आज्ञा हो तो जाऊँ, और उस पर मिट्टी डाल आऊँ। होम की तैयारी करने आया हूँ, सो करके उधर चला जाऊँगा।"

"आरुणि! तुम पहले खेत पर जाओ। पानी को बराबर रोक रखना, भला! देखना, क्यारियाँ अखण्ड ही बनी रहें। होम की तैयारी तो हो जायगी।"

अरुणि भागा। टखने-टखने तक पानी को चीरता, कीचड़-कचरे को कुचलता, खूँदता, चुभते काँटों को खीच-खीच पर फेंकता, आरुणि बाँध के पास पहुँचा।

बाँध टूटने की तैयारी में था। और पानी कहे, कि अभी ही बरसूँगा। अरुणि आस-पास से मिट्टी लाकर डालने लगा, लेकिन क्या मज़ाल कि वह टिक जाय? मिट्टी तो बह ही गई, और बाँध भी टूटा, और पानी कहे कि आज ही बरसूँगा!

आरुणि ताकता रह गया। उसके पास सोच-विचार के लिए समय

नहीं था। अन्तेवास के बीसों वर्ष आज उसके सामने आ खड़े हुए। गुरुजी की आज्ञा है कि क्यारी अखण्ड रहनी चाहिए। बीस वर्ष में एक बार भी आज्ञा का भंग नहीं हुआ। क्या आज उस सब पर पानी फिर जायगा ?

उसी क्षण उसके मन में बिजली-सी कौंधी। उसके समूचे शरीर में नई शक्ति का संचार हो गया। और इससे पहले कि पानी फूटकर बाहर निकले, आरुणि की देह बाँध की जगह जड़ गई। हड्डी और मांस के बने उसे जीते-जागते बाँध ने पानी के प्रवाह को रोक दिया, और धँसी आती मिट्टी, मिट्टी के आरुणि पर अपनी तहें चढ़ाने लगी।

दूसरा दिन उगा। होम से निपटकर गुरु बाहर आये और पूछने लगे––"आरुणि कहाँ है ?"

"कहीं भटकता होगा ?" एक ने कहा।

"जी, अभी इस ओर जा रहा था।" दूसरा बोला।

"उसे तो कल बाँध पर भेजा था न ? सो वह भला आदमी सारी रात वहीं पड़ा रहा होगा। उसे तो भाता था, और बैद ने बता दिया !" तीसरे ने कहा।

"अरे हाँ; मालूम होता है, रात आरुणि लौटा नहीं। चलो हम खेत पर चलें।" गुरु बोले।

सब खेत की तरफ़ रवाना हुए।

"आज आरुणि की खबर ली जायगी।"

"हाँ, आज चोर रँगे हाथों पकड़ा जायगा।"

"रोज़ रात को भाग जाता है, और कहता है, मैं तो गुरुजी के पास सोता हूँ। आज अच्छा भण्डाफोड़ होगा !"

सब खेत की ओर चले। खेत तो वर्षा के कारण खूब ही तर हो गया था। चारों ओर देखा; किंतु आरुणि कहीं न दीखा।

'आरुणि, आरुणि !" गुरु ने पुकारा।

"आरुणि यहाँ कहाँ होगा ? वह तो कहीं नौ दो ग्यारह हुआ होगा !"

"गुरुजी। आज आपकी भी आँख खुल जायगी।"

गुरु ने फिर पुकारा—"आरुणि !"

हाड़-माँसवाले बाँध के कानों से गुरु की पुकार टकराई, और आरुणि तुरन्त ही अपने ऊपर चढ़ी मिट्टी की तहें खँखेरकर खड़ा हो गया और गुरुकी ओर दौड़ा।

"बेटा, आये !" गुरु ने मिट्टी से सना शरीर छाती से लगा लिया।

आरुणि ने गुरु के चरणों में नमन किया।

"क्यों रे, अब तक कहाँ था ?" एक ने पूछा।

दूसरे ने आरुणि का हाथ खींचकर उसके कान में कहा—"रात कहाँ सो रहा था ?"

गुरु ने आँखें तरेरते हुए कहा—"दुष्टो ! तुम नही जानते कि तुम्हें तो आरुणि को स्पर्श करने का भी अधिकार नहीं। तुम अपनी बुद्धि और ज्ञान के अभिमान में अन्धे बन गये हो। तुम्हारे मन्त्रोच्चारों, तुम्हारी वल्लियों, ऋचाओं, और तुम्हारी छटा ने तुमको बहका रक्खा है। तुम्हारी विद्या झूठी है। सच्ची विद्या तो इस आरुणि ने जानी है।

"तुमको आरुणि मूर्ख प्रतीत होता है। किन्तु मूर्खो ! आज तुम जो कुछ रटते हो, वह सब रटकर और उससे थककर ही तो आरुणि यहाँ आया है। तुम सब वेद के अभ्यासी हो; किन्तु तुम नहीं जानते कि

इस आरुणि जैसों की वाणी से वेद बनते हैं। आरुणि ने दूसरों के बनाये शास्त्र बहुत घोटे, बहुत चाटे; तुम भी आज किसी के बनाये शास्त्रों से अपनी बुद्धि लड़ाते हो; किन्तु आरुणि तो स्वयं ही आज से शास्त्री बनता है।

"तुम इस आश्रम में गुरु की शरण आये हो; किन्तु गुरु का आश्रय ढूँढ़नेवाले तुम अपने शस्त्रास्त्र तो छिपाकर रखते हो। जब तुम किसी की शरण जाते हो, तो तुम्हारे सभी शस्त्र उसके हो जाते हैं। फिर तुम अपने शस्त्रों के उपयोग में स्वतन्त्र नहीं रहते; फिर तो तुम्हारा यही काम रह जाता है कि जब आदेश हो, शस्त्र उठाओ। क्या तुमने अपने शस्त्रास्त्र इस तरह गुरु को सौंपे हैं? तुम्हारा शरीर, तुम्हारे हाथ-पैर, तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारी बुद्धि, इन सबको अपने गुरु के लिए ख़र्च करने की तुम्हारी तैयारी कहाँ है? इस सबकी जड़ में रहे अभिमान को तो तुम पोसते रहते हो। जब तक यह अभिमान न छूटे, क्या हो?

"बेटा आरुणि! तेरे मुख पर मैं वेदों और शास्त्रों का प्रकाश देख रहा हूँ। जा तेरा कल्याण हो! तुझे आत्म-दर्शन हो चुका है।"

आरुणि चुप रहा। उसने पुनः गुरु के चरणों में नमन किया। सब आश्रम की ओर लौट पड़े।

: २ :

उपमन्यु

धौम्य ऋषि के आश्रम पर आश्विन सुदी दशमी का चन्द्रमा उगा। आँगन में एक पटे पर मृगचर्म बिछाकर ऋषि लेटे हुए है। पास ही दूसरे पटे पर बैठी उनकी पत्नी समिधा के टुकड़े काट रही हैं। आश्रम में सर्वत्र शान्ति है। शिष्य सब सो गये हैं।

ऋषि-पत्नी ने कहा—"बहुत दिनों से एक बात मेरे मन में उठती रहती है।"

ऋषि ने पूछा—"बहुत दिनों से ? तो फिर आजतक कभी कुछ कहा क्यों नहीं ?"

"मै खुद उसका हल खोज रही थी, किन्तु मुझे कोई हल मिला नहीं; इसलिए आज आप से पूछती हूँ।"

"अवश्य पूछो। बात क्या है, कुछ सुनूँ तो ?"

"यह उपमन्यु आपका परम शिष्य है। मुझे याद है कि शास्त्र में उसकी बुद्धि की पैठ देखकर आप भी चकित हुए थे। आपके समस्त शिष्यों की बातचीत से ऐसा मालूम होता है कि इधर तो उसने योग में भी बहुत उन्नति की है। आरुणि तो आज साँझ के समय कह रहा था कि उपमन्यु आजकल तीन-तीन घण्टे तक समाधि में रहता है।"

ऋषि ने कहा—"ठीक है; किन्तु इससे क्या ?"

ऋषि-पत्नी ने समिधा काटने का काम बन्द करते हुए कहा—

"उपमन्यु के इतनी उन्नति कर लेने पर भी आप उसे ज्ञान की परम दीक्षा क्यों नहीं देते ?"

"बात तो तुम्हारी बिलकुल सच है। इतने कम समय में शास्त्र और जीवन के रहस्य को समझनेवाला यही एक शिष्य आया है। ध्यान-धारणा तो मानो उसके लिए स्वयंसिद्ध ही थे; अपने चित्त के दोषों को परखने की उसकी सूक्ष्मता ने अन्तःकरण की एक-एक तह को उलट-पुलट डाला है; उसने अनेक अशुभ वासनाओं को उलट दिया है, और जीवन के समूचे प्रवाह को परम तत्त्व की ओर अभिमुख कर दिया है।"

ऋषि-पत्नी ने बल पाकर कहा—"तो फिर आप उसे ज्ञान की अन्तिम दीक्षा क्यों नहीं देते ?"

"उसका एक कारण है ?"

"क्या ?"

"उपमन्यु यों तो सब तरह तैयार हो गया है, किन्तु उसका एक दोष इसमें बाधक हो रहा है।"

"आपको उसमें ऐसा कौन-सा दोष दीखता है ?"

"उसकी भूख—अन्न के प्रति उसकी वासना।"

"उपमन्यु को अन्न की वासना है ? फिर तो अपने पिता के महल छोड़कर वह यहाँ भीख माँगने आता ही क्यों ?"

"तुम इसे नहीं जानतीं; मैं उसके इस दोष को परख सकता हूँ। उपमन्यु स्वयं भी इस बात को जान गया है; किन्तु वह बेचारा विवश हो जाता है। यह उसके लालन-पालन का दोष है। ऐश्वर्यसम्पन्न माता-पिता का इकलौता लड़का ठहरा। इसलिए जब पानी माँगा, तो लोगों ने दूध दिया। आज जीवन की अन्य सब बातों में उपमन्यु ने विचारबल से

अपनी काया पलट कर डाली है; किन्तु इस दोष के आगे वह भी हार जाता है। उस समय उसकी समझदारी, उसका शास्त्र-ज्ञान, और उसका योगबल सभी काफ़ूर हो जाते हैं। उसके अन्तर की किसी तह में यह दोष घुसा पड़ा है। जिस दिन यह निकल जायगा, मुझे उसको दीक्षा देने की भी आवश्यकता न रह जायगी। दीक्षा तो उसके अन्दर से अपने आप अंकुरित हो उठेगी; मैं तो गुरु के नाते उस दीक्षा का स्वागत-भर करूँगा।"

ऋषि-पत्नी ने गरदन हिलाते हुए कहा—"ये सब तो मुझे फुसलाने की बातें हैं। मेरे लिए छोटा भाई समझो तो, और पुत्र समझो तो, सब कुछ उपमन्यु ही है। उसे देखकर मेरे हृदय मे न जाने क्या-क्या होने लगता है। आपने उसे इतनी सारी विद्याएँ सिखाई हैं, तो आप उसका यह एक दोष दूर नहीं करेंगे?"

"दोष मेरे दूर करने से थोड़े ही दूर होने वाला है? जिस दिन उसके हृदय से तीर छूटेगा, उस दिन वह अपने आप दूर हो जायगा।"

"किन्तु आप उसको इसका कोई उपाय तो बताइये।"

"उपाय मैं बता सकता हूँ। परन्तु आज ऐसा किसलिए करूँ?"

"किसलिए क्यों? हमें आश्रम-जीवन बिताते हुए आज तीस-तीस बरस हो गये। इस बीच आपके एक भी शिष्य को साक्षात्कार नही हुआ। ऐसी दशा में मैं दूसरी ऋषि-पत्नियों को क्या मुँह दिखलाऊँ?"

"तुम कह सकती हो कि जब ऋषि को ही ज्ञान न मिला हो, तो वह शिष्य को क्या दे?"

"वाह, ऐसा भी कहीं कहते होंगे? नहीं, आप उपमन्यु के लिए कुछ कीजिये। उसकी वासना को मिटाइए। आप जो चाहें कर सकते

है। मेरी कोई बात नहीं; किन्तु इस उपमन्यु के लिए तो अवश्य ही कुछ कीजिये।" ऋषि-पत्नी ने हठपूर्वक कहा।

"अच्छा।"

"देखिये भला, भूलिये नहीं! कल से करेंगे?"

"मेरा मन तो इस विषय मे कुछ करना नही चाहता। यदि दो वर्ष बाद भी उपमन्यु को ऐसा ज्ञान मिला, तो उससे उसकी हानि क्या होगी? वह आज ही प्राप्त करना चाहे, तो मैं कौन उसे रोकता हूँ? और दो दिन बाद प्राप्त करना चाहे, तो हम किसलिए उतावली करें?"

"देखो फिर! एक बार स्वीकार कर चुके हो, तो अब बदलो नही। क्या आश्रम मे मेरी इतनी भी न चलेगी?"

"अच्छा, तो जाओ। तुम्हारी इच्छानुसार सब कुछ हो जायगा।"

× × ×

सबेरा हुआ। आश्रम-वासियों ने निद्रा त्यागी।

"उपमन्यु। आज तुम्हे ढोर चराने जाना है। देखना भला, देर न हो जाय।"

"जी, महाराज।"

गुरु की आज्ञा वेद-वचन जो ठहरी। शरीर का रोम-रोम मानो थिरक उठा। ऐसा लगा, मानो हाथ में लाठी आ गई हो, और पैर बन की पगडंडियों पर चलने लगे हों! और वन के वे वृक्ष; वे हरे-भरे खेत, और कलरव करते पक्षी; सभी मानो आँख के सामने आकर खड़े हो गये।

अन्दर से आवाज़ आई—"वहाँ खाओगे क्या?"

उपमन्यु झटपट नहा लिया। जल्दी से गाँव में जाकर भिक्षा ले

आया। यथेच्छ भोजन कर लिया, और फिर गायों के साथ चल पड़ा।

× × ×

साँझ हुई। उपमन्यु गायों के साथ वापस अश्रम में आया, और जहाँ गुरु हवन कर रहे थे, वहाँ हाथ जोड़कर खड़ा रहा।

"कौन उपमन्यु! गाये चरा लाये, बेटा! किन्तु आज तुमने भोजन का क्या किया?" ऋषि ने पूछा।

"भिक्षा माँगकर ले आया था और खाकर ही गया था।"

ऋषि गम्भीरता से बोले—"गुरु को निवेदन किये बिना जो भिक्षान्न खाता है, वह पापान्न खाता है। कल भी तुम्ही को गाये चराने जाना है समझे?"

"जी, महाराज।"

× × ×

दूसरे दिन का सबेरा हुआ, और उपमन्यु झटपट भिक्षा माँगने निकला। जो भिक्षा मिली, गुरु के सामने लाकर रख दी। गुरु ने सारी भिक्षा अपने काम में ले ली। उपमन्यु बाहर आया और सोचने लगा कि गुरु ने कोई भिक्षा छोड़ी नही है, तो यों ही वन को चला जाऊँ।

किन्तु इतने में अन्दर से किसी ने कहा—"भूख लगेगी तो?"

उपमन्यु चल पड़ा–दुबारा गाँव में भिक्षा लेने। भिक्षा लाकर यथेच्छ भोजन किया, और फिर गायें चराने निकला।

दूसरा दिन भी पश्चिम में ढला, और उपमन्य हवन-कुण्ड के पास आकर खड़ा हुआ।

"कौन उपमन्यु! आ गये बेटा! आज भोजन का क्या किया?" गरु ने पुछा।

"आज दूसरी बार भिक्षा ले आया था, और यहाँ से खाकर ही गया था।"

"यह उचित नहीं। शिष्य गाँव से एक ही बार भिक्षा माँग कर लायें। कल भी तुम्हीं को गाये चराने जाना है, समझे ?"

"जैसी आपकी आज्ञा !"

तीसरे दिन सबेरे उपमन्यु गाँव से भिक्षा लेकर आया और उसे गुरु के चरणों में रख दिया; फिर वह गायों के साथ वन की ओर चल पड़ा।

घोर, घना बन ! ऐन दुपहरी मे भी अन्दर धूप का प्रवेश न हो पाता था। गायें सब छाँह में बैठी जुगाली कर रही थीं। उपमन्यु एक पेड़ पर चढ़कर हाथ-पैर फैलाये लेटा हुआ था। कुछ देर तक वह सामवेद के मंत्र गाता रहा, फिर कुछ देर पक्षियों को बुलाता रहा। थोड़ी देर तक बंसी बजाई। किन्तु फिर तो वह थक गया। उसका पेट चिपक गया था। आँखें अन्दर धँस गई थी, मानो उपमन्यु, उपमन्यु ही न रह गया हो ! वह मन ही मन गुनगुनाने लगा—"गुरु ने भिक्षा में से कुछ खाने को दिया नही, और दुबारा भिक्षा माँगकर लाने से रोक दिया। आज का दिन भूखा ही रह लूँगा, तो क्या हो जायगा ? इससे भूख पर काबू आयेगा। किन्तु इस तरह भूख सहने से लाभ क्या ? इन गायों के आँचल टूटे पड़ते है, इनका थोड़ा दूध पी लूँ, तो इसमें गुरु की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं।"

उपमन्यु पेड़ पर उठ बैठा। धीमे-धीमे वह नीचे उतरा और गायों के आँचल से दूध पीकर उसने अपनी भूख बुझा ली।

तीसरा दिन भी डूबा और उपमन्यु अग्नि-शाला में उपस्थित हुआ।

"कहो बेटा ! आज किस चीज़ से भूख मिटाई ?"

"गायों के दूध से।"

"वह दूध तो बछड़ों के लिये और होम के लिए है; हम उसे नहीं पी सकते। कल भी तुम्हीं को गायें चराने जाना है। गायों को दुहकर उनका दूध न पीना, भला !"

"जैसी आज्ञा।"

चौथे दिन भी उपमन्यु गायें लेकर चला। "जब गुरु मेरी परीक्षा ही लेना चाहते हैं, तो आज मैं छ भी न खाऊँगा। एक दिन न खाने से कोई मर थोड़े ही जाता है ?"

उपमन्यु पेड़ पर बैठकर बाँसुरी बजाने लगा। किन्तु बाँसुरी कब तक बजाता ? दूर पर गायों को चरते देख उसका मन चल-विचल हो उठा। उससे रहा न गया। अन्दर से मानो कोई धक्का मार रहा हो, इस तरह वह अचानक उठ बैठा। गुरु ने गाय का दूध पीने की मनाही की है। वह दूध बछड़ों के लिए है। सच है, किन्तु बछड़ों के पी चुकने पर ?"

पेड़ से नीचे उतरकर उपमन्यु ने एक बछड़ा छोड़ दिया, और वह अपनी माँ का दूध पीने लगा। इधर उपमन्यु उसके मुँह से दूध के झाग समेट-समेट कर अपने मुँह में रख रहा था। इस तरह आठ दस बछड़ों के झाग से तृप्त होकर उपमन्यु आश्रम की ओर लौटा।

"कहो उपमन्यु ! आज दूध-वूध तो नहीं पिया न ?"

"जी नहीं, दूध नहीं पिया; किन्तु दूध पीते बछड़ों के मुँह पर जो झाग आते थे, सो चाटे हैं।"

गुरु बोले—"हमें झाग भी न चाटना चाहिए। झाग में तो सारा सत्त्व रहता है। कल झाग भी न लेना।"

"जैसी आज्ञा।"

जंगल का पाँचवाँ दिन तो उपमन्यु के लिए ब्रह्मा का दिन बन गया। झाड़ पर लेटता था और फिर उठ बैठता था। कभी वेद के मंत्रों का गान करता और कभी पीपल के पत्ते तोड़-तोड़कर पानी में फेंकता।

सूर्य अस्त होने आया; गायों ने घर की राह ली। उपमन्यु पीछे पीछे चला आ रहा है। मन में सोच रहा है—"आज तो भूख पर विजय मिली!"

किन्तु मार्ग में अच्छे मज़े के थूहर दिखाई पड़े, और उपमन्यु का मन डोला—"नहीं-नहीं, अब तक कुछ नहीं खाया, तो अब क्यों खाऊं? किन्तु चलूँ, देखूँ तो सही। कितने सुन्दर इसके ये फल है! और इन फलों पर तो किसी का अधिकार नही। ये होम-हवन के भी काम नहीं आते।"

अभी सोच ही रहा था कि हाथ आगे बढ़ गया, और थूहर के फल अपने डण्ठलों से अलग होने लगे। इतने में थूहर के दूध की एक धार आँखों में आ गिरी, और तत्क्षण अन्धता आ गई! दुनिया सारी अँधेरे मे डूब गई। पगडंडी, पेड़, गाय, कुछ भी दीखता न था। गायों के खुर की आवाज़ के सहारे उपमन्यु कुछ ही दूर चला था कि वह एक बड़े खन्दक में जा गिरा, और गिरते ही उसे अपनी क्षुद्रता का बोध हो गया। "अरे उपमन्यु! गुरु के इतना कहने पर भी तू अपनी भूख को रोक न सका? तू बड़ा गँवार है। अब तो इस खन्दक में ही तेरी मौत लिखी दीखती है। गुरो! मुझे क्षमा करो! मेरे क़सूर माफ़ करो! मैं आपकी आज्ञा के अक्षरार्थ से ही चिपटा रहा, इसकी मुझे माफ़ी दे! अगले जन्म में भी आप ही मेरे गुरु रहें! गुरु-पत्नि! मुझे अपनी कोख से जन्म देना!"

उपमन्यु इधर-उधर हाँथ-पाँव पटक रहा था, कि इतने में आगे को उभरी एक चट्टान उसके हाथ लग गई, और वह उस पर चढ़ गया उसका शरीर थर-थर काँप रहा था।

आश्रम में हवन का समय हुआ। गुरु उपमन्यु की बाट जोह रहे थे; किन्तु उपमन्यु दिखाई नही पड़ा। पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ कि गायें तो सब लौट आई है; पर उपमन्यु नही आया।

"तो मेरा उपमन्यु कहाँ रह गया! क्या कोई हिंस्र पशु उसे फाड़कर खा गया? उस साँप ने तो नहीं डँस लिया? मेरा उपमन्यु भूखो तो नहीं मर गया?" ऋषि-पत्नी विकल हो उठी।

गुरु उपमन्यु को ढूँढने चले। कुछ शिष्य भी उनके साथ हो लिय। जंगल में जाकर गुरु ने पुकारा—"उपमन्यु, बेटा उपमन्यु!"

"गुरुजी गुरुजी! मै तो यहाँ एक अन्धे कुएं में पड़ा हूँ।"

जिस ओर से आवाज आई थी, गुरु और शिष्य उसी ओर बढ़े। इतने में उपमन्यु ने पुकारकर कहा—"जी, यह तो एक बड़ा-सा खन्दक़ है। आप दूर ही रहिए; नही, अन्दर गिर पड़ेंगे।"

सब खन्दक़ के समीप आये। गुरु ने पूछा—"बेटा! तुम अन्दर कैसे गिर पड़े?"

"अपने पाप के कारण। गुरुजी मै अन्धा हो गया हूँ।"

"एँ, अन्धे! अन्धे कैसे हो गये?"

उपमन्यु ने खंदक़ के अन्दर से गुरु जी को अपनी बीती सुनाई। गुरु का हृदय द्रवित हो उठा।

"बेटा घबाराओ नहीं। तुम अश्विनीकुमार की स्तुति करो। वे देवों के वैद्य है। उनकी कृपा से तुम्हारा कल्याण होगा।"

उपमन्यु अश्विनीकुमारों की स्तुति करने लगा। जीवन से निराश

होकर बैठनेवाला आदमी जिस आर्द्र भाव से स्तुति करता है, उसकी उपेक्षा कौन कर सकता है ? अचानक खन्दक़ में प्रकाश छा गया, और अश्विनीकुमार आ पहुँचे।

"उपमन्यु ! हमे क्यों बुलाया है ?"

"देव ! मै अन्धा हो गया हूँ। कृपा कर मुझे दृष्टि दीजिये।"

"बस, यही काम था ? लो, यह अपूप है। इसे तुम खालो। तुम्हारी आँखे तुरन्त खुल जायँगी।"

"मैं इसे नहीं खा सकता। इस खाने की हाय से उबरने के यत्न में तो मैं आपकी कृपा का भिखारी बना हूँ ; इस खाने ने मुझे मार डाला है।" उपमन्यु ने कहा।

"किन्तु यह तो दवा है। यदि तुम दृष्टि चाहते हो, तो तुम्हें यह अपूप खाना होगा।"

"मुझे दृष्टि मिल जाय और मैं देख सकूँ, तो अच्छा ही है; नहीं तो कोई बात नहीं। किन्तु गुरु की आज्ञा के बिना अब मै कुछ भी मुँह में नहीं डाल सकता। यह मेरा निश्चय है।"

अश्विनीकुमार तनिक चिढ़कर बोले—"तुम्हारे धौम्य ने भी अपने गुरु की आज्ञा के बिना यह अपूप खाया था। क्या तुम अपने गुरु से भी बढ़ गये ?"

"प्रभो, यह मेरा संकल्प है। इस संकल्प का त्याग करके मैं दृष्टि नही चाहता।"

अश्विनीकुमार गुरु धौम्य के पास गये, उपमन्यु के लिए अपूप खाने की आज्ञा प्राप्त की, और फिर उसे अपूप खिलाया। अश्विनीकुमारों की कृपा से उपमन्यु फिर देखने लगा, और वह खंदक़ से बाहर आया।

ख़न्दक़ के किनारे गुरु-शिष्य भेंटे । उपमन्यु का सारा शरीर पसीने से तर हो गया ।

गुरु ने कहा—"बेटा ! तुम्हारी माता तुम्हारे बिना छटपटा रही होगी; चलो, झटपट आश्रम को चलो ।"

सब आश्रम की ओर चल पड़े । ऋषि-पत्नी आश्रम के द्वार पर बैठी थी, सो उठ खड़ी हुई । उपमन्यु ने उनकी गोद में सिर डाल दिया ।

"बेटा ! चिरंजीव रहो ! जब इस आरुणि ने आकर कहा कि तुम अन्धे हो, गये हो और ख़न्दक़ में पड़े हो, तभी मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया । यह सब तुम्हारे गुरु का क़सूर है ।"

"क़सूर मेरा या तुम्हारा ?" गुरु हँसे ।

"मैंने तुम्हें इतना कठोर कभी नहीं जाना था । ये सब तुम्हारे बच्चे हैं या दुश्मन ? यदि मुझे इस आश्रम में रहने देना है, तो यहाँ ऐसी परीक्षायें नहीं चल सकेंगी ।"

"तो क्या साक्षात्कार सेंतमेत में हो जाता है ? बेटा उपमन्यु ! तुम्हारा अन्तेवास आज समाप्त हुआ । तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी बाट जोहते होंगे । तुम्हें उस अन्धकूप में ही ज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है । जाओ, तुम्हारा कल्याण हो !"

उपमन्यु ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया, और ऋषि-पत्नी की गोद में सिर रक्खा । गुरु-पत्नी ने उसका सिर सूँघा, उसके भाल पर तिलक लगाया, और उसे शुभेच्छाओं के साथ बिदा किया ।

: ३ :

विजय किसकी ?

"क्यों, क्या मातरिश्वा अभी तक नहीं आये ? जातवेदा भी दिखाई नहीं पड़ते।" इन्द्रासन पर आरूढ़ होते हुए देवराज बोले।

"अग्निदेव तो ये आ रहे हैं; मात्र मातरिश्वा नहीं आये।" पूषा ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"जी ! मुझे थोड़ी देर हो गई ; वायुदेव अभी आते ही हैं।" अग्नि ने अपना आसन ग्रहण करते हुए कहा।

देवराज इन्द्र अग्निदेव की ओर देखकर बोले––"आपकी और वायु की सहायता के कारण अबकी हम असुरों को पराजित कर सके ! आपके बिना यह संभव न था।"

अग्नि ने उत्तर दिया––"हमने तो अपनी शक्ति देवराज के चरणों में चढ़ा दी है। वैसे, जब असुरों ने घोर कोलाहल के साथ पहली बार आक्रमण किया, तब तो हमने भी सोचा कि अब देवों का पुण्य समाप्त हुआ।"

"लीजिये, ये वायुदेव भी पधारे।" वरुण ने द्वार की ओर दृष्टि डालते हुए कहा।

"पधारिये वायुदेव !" इन्द्र ने आसन दिया।

"क्या चर्चा चल रही है, महाराज ?"

"विजयोत्सव के समय और क्या चर्चा हो सकती है ? बात तो हम सबके और खासकर आपके पराक्रम की चल रही है।"

'इसमें हमने विशेष कुछ नहीं किया। यदि ऐसे समय भी हमारा बल काम न आये, तो फिर उसका उपयोग क्या ?" मातरिश्वा ने थोड़े गर्व के साथ कहा। "पूछिये इन अग्निदेव को। उस महासुर को मारने में हम पर क्या बीती थी ?"

इस प्रकार देवसभा में चर्चा चल ही रही थी कि इतने मे द्वार के समीप एक आकृति दिखाई दी, और इन्द्र का ध्यान अचानक उस ओर गया।

"वहाँ द्वार पर कौन है ?"

पूषा ने देखा, वरुण ने देखा, अग्नि ने देखा, सब देवों ने देखा, ओर सब स्तब्ध हो गये।

"कौन है वहाँ ?"

सब चुपचाप बैठे रहे। सब मन ही मन सहम उठे।

"अग्निदेव ! हम सबमें आप सबसे अधिक तेजस्वी है; अतः ज़रा जाकर देख आइये कि वहाँ कौन है।"

"जी, बहुत अच्छा।"

अग्निदेव द्वार के पास पहुँचे, किन्तु कुछ पूछ न सके। इसपर उस आकृति ने पूछा--"तू कौन है ?"

"मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ। मैं जातवेदा हूँ। समस्त उत्पन्न वस्तुओं को मैं जानने वाला हूँ।"

"ऐसी बात है ? तो बता, तुझमें बल कितना है ?"

"इस पृथ्वी में और अन्तरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ है, उन सबको जलाकर भस्म करने की शक्ति मुझमें है।"

"तो ले, इसीको जला।" कहते हुए उस आकृति ने घास का एक तिनका उसके सामने रक्खा और कहा—"स्थावर-जंगम पदार्थों को जलाने की बात हम बाद में करेंगे।"

अग्नि तैयार हुआ, और तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने लगा। लेकिन तिनका सुलगे तब न ? अग्निदेव तो इस छोर पर आते, और उस छोर पर जाते; तिनके को उलटते-पलटते; किन्तु एक चिनगारी भी झड़े तो कैसे झड़े ? स्थावर-जंगम पदार्थों को भस्म करने की उनकी शक्ति आज न जाने कहाँ चली गई !

अन्त में अग्नि हारा-थका लौट आया। उसके मुँह पर लज्जा की लाली छा गई थी। उसने सिर नीचा करके कहा—"मैं नहीं जान सका कि वह कौन है।"

सारी सभा निस्तेज हो गई। जातवेदा न जान सकें, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो ?

"वायुदेव ! वह कौन है, सो आप ज़रा जाकर देख आयेंगे ?"

वायु को कहने की देर थी। प्रचण्ड वेग से वह द्वार के पास पहुँचा। किन्तु केवल पहुँचा ही; वहाँ पहुँचकर तो वह भी स्तब्ध भाव से खड़ा रह गया।

"तू कौन है ?"

"मैं मातरिश्वा, आकाश में विचरण करनेवाला; मैं प्रसिद्ध वायु हूँ।"

"अच्छा ! तो तुझमें क्या बल है ?"

"पृथ्वी पर और अन्तरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ हैं, उन सब को एक पल में उड़ा देने की शक्ति मुझमें है।"

"तो देखें, इसे उड़ाकर दिखा।" कहते हुए आकृति ने घास का वही तिनका वायु के सामने रक्खा और कहा—"स्थावर-जंगम पदार्थों को उड़ा देने की बात हम बाद में करेंगे।"

वायु को तो उस तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने में लज्जा-सी

मालूम होने लगी--कहाँ वायु, कहाँ तिनका ! वह वेग से तिनके पर झपटा और उसे उड़ाने का भगीरथ प्रयत्न करने लगा; किन्तु तिनका तो हिला तक नहीं ! वायु थका और खिसियाना होकर लौट आया।

"मैं उस आकृति को नहीं पहचान सका।"

विजयोत्सव मनाने वाले देवों की यह कैसी दशा ? "हे इन्द्र, हे मघवन्, अब तो आप ही उसे पहचानकर आइये।" देवों ने कहा।

'अग्नि और वायु-जैसे तो वापस आ गये। भला, वह क्या है ? कौन है ?" इस प्रकार विचार करते-करते देवराज इन्द्र द्वार की ओर चले। उनके पैर धीमे पड़ रहे थे; उनका श्वास मन्द था; उनका मन किसी गहरी चिन्ता में लीन हो गया था। आज के विजयोत्सव की धूम-धाम से मानो वह दूर चले गये थे !

दरवाज़े के पास जाकर देखा तो वहाँ कोई न दीखा ! 'इन्द्रासन पर से देखी हुई आकृति कहाँ अदृश्य हो गई ! वह कौन था ? कहाँ चला गया ?"

देवराज इन्द्र वहीं समाधि में लीन हो गये। उनका मन उस आकाश में स्थिर हुआ। कुछ देर बाद वहाँ, उस स्थान पर, उमा प्रकट हुईं। समस्त संसार का सौन्दर्य उमा में उतर आया था। उनका शरीर सोने की भाँति दमकता था।

द्वार पर उमा को देखकर देवराज के हृदय मे साहस का संचार हुआ, और उन्होंने पूछा—"कुछ समय पहले यहाँ जो था, वह क्या था !"

देवराज के दीन वदन को प्रफुल्ल करती हुई उमा बोलीं--"वे तो परमात्मा थे। ये तुम्हारे अग्नि और वायु स्वयं जिस बल का

अभिमान करते हैं, वह बल उन्हें कहाँ से मिला है ? तुम देव और असुर, दोनों एक ही प्रजापति के पुत्र हो, और असुर तुमसे बड़े भी हैं। फिर भी विजय तुम्हें कैसे मिली, सो तुम जानते हो ? तुम्हें इस बात का होश है कि तुममें जो कुछ है, सो परमात्मा का है, और तुम तो निमित्तमात्र हो; इसी कारण तुम देव हो, और इसीसे तुम्हारी विजय है। असुर परमात्मा की परवाह नहीं करते, और इस अभिमान में मस्त रहते हैं कि वे स्वयं ही सब कुछ हैं। इसीलिए वे असुर हैं।"

"मेरी समझ में नही आया कि परमात्मा आये क्यों और गये क्यों ?"

"सुनो। असुरों को हराकर तुम सब उत्सव मनाने को एकत्र हुए। तुम तो यही मानने लगे कि तुम्हारी ही शक्ति से असुरों का पराजय हुआ है। तुमको भी अपने बल का अभिमान हो गया था; और अग्नि व वायु तो मानो फूलकर कुप्पा ही हुए जा रहे थे। यह देख परमात्मा को तुम पर दया आई। यदि तुम को भी अभिमान आ जाय, तो तुम भी असुर हुए या और कोई ?"

"तुम्हें असुर बनाने से रोकने के लिए, तुम्हारे देवत्व को सुरक्षित रखने के लिए, तुम्हारे अभिमान को नष्ट करके तुम्हें ठिकाने लाने के लिए, और यह सिद्ध करने के लिए कि संसार के देवासुर-संग्राम मे विजय देवों की ही है, परमात्मा ने वह रूप धारण किया, और अग्नि एवं वायु जैसों को चमत्कार दिखा दिया। बेटा ! जाओ। तुम देवों के राजा हो। जब तक तुममें यह भाव जाग्रत रहेगा कि तुम सबमें जो शक्ति है, सो परमात्मा की है, तबतक तुम देव हो। जिस क्षण तुम्हें इसका विस्मरण हो जायगा, उसी क्षण से तुम असुर हो। इसमें सन्देह नही कि देवासुर-संग्राम में आखिर जीत देवों की ही है।" इतना कह कर उमा अदृश्य हो गई और देवराज सभा में लौटे।

सभा में आकर इंद्र ने देवों को सारी बात कह सुनाई। सुनकर अग्नि और वायु को भी होश हुआ; और सबके मन में क्षण भर के लिए जो असुरावेश आ गया था, वह निकल गया।

इन्द्रने पूछा—"विजय किसकी ?"

अग्नि ने कहा—"विजय परमात्मा की।"

इन्द्रने पूछा—"विजय किसकी ?"

वायु ने उत्तर दिया—"विजय परमात्मा की।"

इन्द्रने पूछा—"विजय किसकी ?"

सबने एक साथ कहा—"विजय परमात्मा की ही, अन्य किसी की नहीं।"

: ४ :

ब्रह्मा का गर्व

एक बार ब्रह्मा को गर्व हुआ।

"कितनी मनोहर है मेरी यह सृष्टि ! आकाश से बात करनेवाले ये बड़े-बड़े पर्वत, हिमालय की गोद से निकल कर बहनेवाली ये गंगा-यमुना, ये लम्बे-चौड़े मैदान, यह विशाल महासागर; ये सब कितने सुन्दर हैं ? साँझ-सबेरे आकाश में रंगों का चौक पूरती यह संध्या को मैंने न बनाई होती तो ? और तारों व नक्षत्रों से जगमगाने वाला यह आकाश ! मेरे चाक पर से प्रतिदिन न जाने कितने मनुष्य उतरते हैं; पशु-पक्षी और कृमि-कीटों की तो गिनती ही क्या ? यह सब मेरे हाथों होता है ! मैं न करूँ, तो और कौन करे ? यह सब मेरी शक्ति का प्रभाव है !"

इस तरह सोचते-सोचते ब्रह्मा उठ खड़े हुए। उनकी छाती फूली, उनकी दृष्टि एक बार अपनी समस्त सृष्टि पर दौड़ गई, और अन्त में दूर के एक रास्ते पर पड़ी, और जहाँ की तहाँ ठिठकी रह गई !

ब्रह्मा ने आज तक सब प्राणी उत्पन्न किये थे, किन्तु ऊँट नहीं बनाये थे। रास्ते पर ब्रह्मा की दृष्टि पड़ते ही उन्होंने देखा, दो-दो की क़तार में ऊँटों की पाँत चली जा रही है। ऊँटों पर कोई बैठा नहीं है, किन्तु प्रत्येक ऊँट की पीठ पर एक-एक बड़ी सन्दूक रस्सी से बँधी है। ब्रह्मा के आश्चर्य का पार न रहा।

"मुझे तो याद नहीं पड़ता कि मैंने ऐसा जानवर कभी बनाया हो ! ऐसी लम्बी गरदन और यह लटकता ओंठ मैंने कभी नहीं बनाया। किसी प्राणी के ऐसे अंग मैं कभी बना सकता हूँ ? तो फिर यह जानवर आया कहाँ से ?"

ब्रह्मा तो गहरे विचार में डूब गये। अपने बनाये हुए आज तक के सभी प्राणियों को एक-एक करके याद कर गये; फिर भी यह तो नया ही था। और, ऊँटों की पाँत तो एक के बाद एक चली ही आ रही थी। ब्रह्मा पूछे भी किससे कि भाई यह जानवर क्या है, और कहाँ से आया है ? ऊँटों के साथ कोई आदमी भी तो दिखाई नही पड़ता ! सुबह दिन उगने से लेकर साँझ को दिन डूबने तक ऊँटों की क़तारे आती ही रहीं, और ब्रह्मा भूख-प्यास भूलकर यह नाटक देखा किये।

इतने में शाम हुई। ब्रह्मा का बनाया सूर्य पश्चिम दिशा में ढल पड़ा, और अदृश्य हो गया। ब्रह्मा की अपनी बनाई संध्या आकाश में खिल उठी, और दूर एक ऊँट पर बैठे हुए आदमी के चेहरे पर चमकने लगी। दूर ऊँट पर बैठे हुए उस आदमी को देखकर ब्रह्मा के जी में जी आया; आशा हुई कि अब कुछ पता चल सकेगा।

जैसे-जैसे वह ऊँट निकट आता गया, उस पर बैठा हुआ आदमी अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसके शरीर का रंग बादलों के रंग से मिलता था; उसके हाथ में एक लाठी थी; लाठीवाले हाथ को कमर पर रखकर और लाठी को पैर की अँगुलियों में उलझाकर वह चारों तरफ़ देखता था। उसके पास एक मजबूत रस्सी थी।

ज्यों ही ऊँट निकट आया, ब्रह्मा ने पुकारा। किन्तु वह आदमी चारों ओर देखते हुए भी ब्रह्मा की तरफ़ नहीं देखता था !

"अरे, ओ भाई !"

आदमी ने सामने नहीं देखा।

"अरे, ओ भाई !"

वह भला क्यों किसी की ओर देखने लगा ? मानो कुछ सुनता ही नहीं !

"अरे, ओ.........भा.........ई !"

आदमी ने अत्यन्त शान्ति के साथ गरदन घुमाकर ब्रह्मा की ओर देखा। उसकी आँखें नीचे को झुकी हुई थीं; ऐसा लगता था, मानो उसके लेखे ब्रह्मा कोई चीज़ न था।"

ब्रह्मा ने पूछा—"भाई ! ये सब जानवर किनके हैं ? और तुम इन सबको लेकर कहाँ जा रहे हो ?"

आदमी ने उत्तर दिया—"तुम्हे इससे क्या मतलब है ? मुझे जाने की जल्दी है। साँझ तो हो गई। मुझे व्यर्थ रोको मत।"

"किन्तु भाई, कुछ कहो तो सही ! तुम मुझे पहचानते नहीं ? मैं ब्रह्मा हूँ। यह सारी सृष्टि मैंने बनाई है, किन्तु यह जानवर मैंने अभी तक नहीं बनाया। मेरी समझ में नही आता कि आखिर यह आया कहाँ से। इन सब जानवरो को किसने बनाया है, और तुम इन्हें कहाँ लिये जा रहे हो ? कुछ कहो, तो मेरे मन की उलझन दूर हो।"

आदमी ने ऊँट को खड़ा किया और कहा—"अच्छा, तो सुनो। ये सब जानवर ऊँट हैं। ब्रह्मा को अभी ऐसे ऊँट बनाने का अधिकार नहीं मिला। इनमें से प्रत्येक ऊँट पर एक-एक सन्दूक़ है, और हरएक सन्दूक़ में एक-एक ब्रह्मा है।"

"एक-एक ब्रह्मा !" ब्रह्मा तो सुनकर हक्के-बक्के रह गये।

"हाँ, हरएक में एक-एक ब्रह्मा। तुम्हारी इस एक सृष्टि के समान इस विश्व में करोड़ों सृष्टियाँ हैं, और प्रत्येक सृष्टि का एक-एक ब्रह्मा

है। शेषशायी भगवान् के पास अभी-अभी यह शिकायत पहुँची है कि कुछ सृष्टियों के ब्रह्मा अभिमानी बन गये हैं, और मन ही मन अपने को भूल बैठे हैं। इसलिए भगवान् ने मुझे आज्ञा की है कि जिस सृष्टि का ब्रह्मा अभिमानी बन गया हो, उसे वहाँ से हटाकर रस्सी से बाँध लूँ, और भगवान् के सामने पेश करूँ; एवं उसके स्थान पर सन्दूक़ में बैठे नये ब्रह्मा को रख आऊँ।"

ब्रह्मा तो इस बातचीत के बीच ही आँखें मूंदकर ध्यान में लीन हो गये थे। उनके अन्तस्तल में स्वयं शेषशायी भगवान् अंकित होने लगे।

उस आदमी ने कहा—"मुझे मालूम हुआ है कि इस सृष्टि का ब्रह्मा भी........."

किन्तु सुने कौन ? ब्रह्मा के कान तो अंदर पैठ गये थे। इन्द्रियाँ सब निश्चल थीं।

सुदूर पूर्व में चन्द्रमा झाँकने लगा; और कुछ देर बाद ब्रह्मा का ध्यान भी समाप्त हुआ। उनकी आँखें निर्मल थीं। देखते क्या हैं कि न तो वहाँ वह आदमी है, न वे ऊँट हैं, न पेटियाँ !

आर्द्र हृदय से ब्रह्मा पुकार उठे—"हे प्रभो ! हे देवाधिदेव ! मैं ब्रह्मा हूँ, तुम्हारे नाभिकमल से जन्मा हूँ, और तुम्हारी शक्ति द्वारा काम करता हूँ। मैं तुम्हें भूल गया, और मुझे ठिकाने लाने के लिए तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़ा। दयालो ! मुझे सद्बुद्धि दो। मूल से विच्छिन्न होकर मैं कैसे टिक सकता था ? प्रभो ! तुम्हारी जय हो, जय हो, जय हो !"

: ५ :

हंसकाकीयम्

गंगा के किनारे बरगद का एक बड़ा पेड़ था और उस बड़ के आसरे में पक्षियों की एक बड़ी बस्ती रहती थी।

पूर्व में प्रभात हुआ। सारी रात जो बरगद गूँगा बना रहा, वह अब मानो जँभाई लेकर और आलस तोड़कर उठ बैठा; जैसे उसकी वाणी का स्रोत फूट पड़ा हो। भागीरथी का धीर, गंभीर नीर कल-कल छल-छल नाद के साथ बह रहा था। ऐसे समय तीन हंस बरगद के नीचे आ पहुँचे। शुद्ध श्वेत वर्णवाले मानस-सरोवर के राज-हंस! सफेद झक उनके पंख, और मोती-मराल का दाना चुगनेवाली उनकी सुन्दर लाल चोंचें! आज वे कोई पचास कोस का मार्ग तय करके आये थे; उनके मुंह पर और उनके पंखों पर थकान की तनिक-सी छाया थी।

पंख समेट कर हंस बरगद के नीचे बैठे।

बड़ पर एक कौवा रहता था। काजल-से काले उसके पंख, और पंखों से भी अधिक काली उसकी चोंच। दो आँखों में से एक आँख झूठी और दो पैरों में एक पैर लँगड़ा। जीभ पर सरस्वती विराजती थी!

हंसों को देखकर कौवा भाई काँव-काँव करके फुदकने लगे; कभी गरदन टेढ़ी करते, कभी कानी आँख घुमाते; कभी इस डाल से उस डाल पर फुदक कर बैठते और कभी अपनी चोंच साफ़ करने लगते।

"यह कौन बैठा है यहाँ ?" कौवे ने अत्यन्त तिरस्कार-पूर्वक कहा और अपनी एक टाँग उठाकर उसने हंसों पर चिरक दिया। हंस आराम से बैठे थकान उतार रहे थे। उनमें से एक हंस बेताब हो उठा; अभी उसकी जवानी फूट ही रही थी। कौवे की वीट पड़ते ही नौजवान हंस ने ऊपर देखा।

"अरे, तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आये हो ? क्या यह बड़ तुम्हारे बाप का है ?" कौवे ने पूछा।

हंसों ने जवाब नहीं दिया। यह देख कौवे को और जोश आ गया। वह चार डाल नीचे उतरा, और ज़्यादा जोश से काँव-काँव करने लगा। बोला—"अरे, बोलते क्यों नही हो ? मुँह में जीभ-वीभ है या नहीं ?"

कौवा और दो चार डाल नीचे उतर आया। अबकी वह बिलकुल ही पास आ गया। उसका काँव-काँव तो जारी ही था।

कौवे के कर्कश स्वर से थककर एक हंस ने उत्तर दिया—"हम राजहंस हैं। आज लम्बा पथ पूरा करके थक गये है। इसलिए कुछ देर यहाँ बैठकर विश्राम कर रहे है। अभी चले जायँगे।"

"तो कुछ उड़ना-उड़ाना भी जानते हो, या यों ही इतने बड़े-बड़े पंख लिये बैठे हो ?" कौवा भाई तो फूले नही समा रहे थे। फिर बड़ पर चढ़ गयें, और उड़ने लगे।

नौजवान हंस कौवे की ओर टकटकी लगाये था।

किन्तु कौवे से कहीं रहा जाता ? बोला—"यों घूर-घूरकर क्या देख रहे हो ? उड़ना जानते हो, तो आ जाओ। मैं इक्यावन तरह की उड़ानें उड़ना जानता हूँ। देखो, यह दूसरी, यह तीसरी और देखो, यह चौथी, और यह बिलकुल नई !"

कौवे की इक्यावन उड़ानें ! बाँई आँख मूँदे और एक उड़ान हो जाय, दाहिनी मूँदे और दूसरी; चोंच को ऊपर उठाये रक्खे, तो तीसरी, और नीचे झुकाये रक्खे, तो चौथी। इस तरह कौवे ने अपने इक्यावन प्रकार तैयार कर रक्खे थे, और खेल सारा बरगद के आसपास !

दो-चार प्रकार की उड़ानें दिखाकर कौवा फिर नीचे उतर आता, और छाती फुलाता, ऐंठ कर चलता, हसों के सामने आता, और कहता--"ऐसा कुछ जानते हो ?"

इस तरह कौवे की इक्यावन तरह की उड़ानों का प्रदर्शन पूरा हुआ। किन्तु हंस जवाब दें तब न ? हंसों की चुप्पी से कौवे महाशय का हौसला और भी बढ़ गया और वह बोले--"है हिम्मत मेरे साथ उड़ने की ? इक्यावन प्रकार मे से कोई दो-चार तो उड़कर दिखाओ। दीखते तो छैलछबीले हो ! शरम नही आती ?"

वृद्ध हंस चुप ही रहे, किन्तु उस युवक हंस का खून खौल उठा। बोला--"दादा ! मुझे जाने दो न ?"

"इस कौवे की सात पीढ़ियों ने कभी हंस देखे नहीं। हम तो मानस-सरोवर के राजहंस है। हम इस कौवे के मुँह क्यों लगें ? हम इसके साथ होड़ में उतरें, तो इसे व्यर्थ की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय। भले न बकता रहे ! हम तो अभी चल पड़ेंगे।" उस अनुभवी हंस ने जवाब दिया।

किन्तु इससे उस नौजवान के मन को सन्तोष न हुआ। उसके पंख चुलबुलाने लगे; उसका दिल दुखने लगा। बोला--"ना दादा ! मुझे तो ज़रा इसे दिखाने दो ?"

"नहीं भाई, नहीं।"

किन्तु जवानी आखिर उछली ! नौजवान हंस सामने आया और

बोला—"भाई ! तुम्हें इक्यावन उड़ानें आती है; उतनी तो मैं नही जानता। पर एक उड़ान जानता हूँ।"

"कितनी, एक ! छिः छिः ! एक में क्या धरा है ?"

नौजवान हंस बोला—"उस एक उड़ान में तुम मेरे साथ उड़ना चाहो, तो चलो।"

कौवा भाई छाती फुलाते हुए आगे आये और बोले—"एक ही ? बस, केवल एक ? अच्छा, तो चलो; एक तो एक ही सही; लेकिन मेरी इक्यावन उड़ानें तो देख ली है न ? एक और इक्यावन का फ़रक़ तो समझते हो न ?"

और दोनों की एक उड़ान शुरू हुई। टेढ़े-तिरछे उड़नेवाले कौवा-भाई आगे और धीर गतिवाला नौजवान हंस पीछे। कौवाभाई का खेल तो रोज़ बड़ के आस-पास ही होता रहता था, किन्तु आज दोनों नदी की ओर मुड़े। दोनों ने गंगा के घुटने-घुटने पानी को पीछे छोड़ा, और आगे बढ़ गये। कौवे के हर्ष का पार न था। कौवाभाई ज़ोर मारकर बराबर आगे रहने की कोशिश करते थे, और हंस तो सहज भाव से उड़ता चला आ रहा था। कुछ दूर आगे जाने पर कौवा मुड़ा और बोला—"इतने पीछे क्यों रह जाते हो ? थक गये हो, तो कह देना। कहने में शरम-संकोच न रखना। यह तो पानी का काम है। हम तो रात-दिन के अभ्यासी ठहरे; तुम्हारी हमारी बराबरी क्या ?"

हंस ने कहा—"कोई बात नहीं, उड़े चलो।"

और आगे कौवा, पीछे हंस।

फिर कुछ दूर उड़ने के बाद कौवाभाई बोले—"तो अब तुम थक गये होगे, चलो अब लौट चलें।"

हंस ने शांति-पूर्वक जवाब दिया--"नही, नही । मैं तो तनिक भी नही थका हूँ। तुम उड़े चलो, मेरी फ़िकर न करो।"

आगे-आगे कौवाभाई, और पीछे-पीछे हंस। किन्तु कौवाभाई तो थक चले। कोई न कोई बहाना निकालते, और लौटने की बात करते, पर हंस से एक ही जवाब मिलता--"उड़े चलो।"

आखिर कौवाभाई थक गये। उनका दम फूलने लगा, और पंख पानी की सतह को छूने लगे।

नौजवान हस पीछे-पीछे उड़ता आ रहा था। बोला--"कहिये, कौवाभाई! भला, यह कौन से प्रकार की उड़ान है? यह तो कोई नई ही उडान मालूम होती है!"

कुछ देर बाद तो कौवाभाई के पंख भीग गये, और सिर पानी में डूबने-उतराने लगा।

"कहिये, कौवाभाई! यह आपका इक्यावनवाँ प्रकार तो नही है न? यह उड़ान इतनी कठिन क्यों लगती है?"

बिना प्यास के पानी पीते-पीते बरगद के राजा कौवाभाई बोले--"भैया! यह इक्यावनवाँ प्रकार नही। यह तो मेरे जीवन का अन्तिम प्रकार है।"

राजहंस को दया आ गई; वह फुरती से कौवे के पास पहुँचा, और उसे अपनी पीठ पर बैठा लिया।

हंस ने कहा--"भाई! मुझे तो एक ही उड़ान आती है। अब ज़रा देखो, मेरी यह एक उड़ान। अच्छी तरह जमकर बैठना, भला!"

और हंस तो उड़ा सो उड़ा। हिमालय के शिखरों को पार करके मानस-सरोवर तक पहुँचनेवाला राजहंस, गंगा के घाट को चीरकर उस पार

पहुँचा और वहाँ से एक लम्बा चक्कर लगाकर, कौवाभाई को विशाल आकाश-दर्शन कराता हुआ वापस बरगद के नीचे आ गया। हंस को नीचे उतरा देख कौवाभाई की जान में जान आई।

लेकिन आखिर कौवाभाई तो कौवाभाई ही ठहरे !

हंस ने ज़मीन पर पैर रक्खा, इतने में तो कौवा काँव-काँव करता, पीठ पर से उड़कर पेड़ पर पहुँच गया, और फिर बरगद की उसी डाल पर से एक बार फिर हंसों पर चिरक दिया ! कौवा और क्या करता ?

कुछ देर बाद राजहंस उड़ गये।

: ६ :

समुद्र-मन्थन

कश्यप के दिति और अदिति दो स्त्रियाँ थी। दिति के पुत्र दैत्य, और अदिति के देव। दैत्य उमर में देवों से बड़े। दैत्यों का शरीर-बल देखकर देव तो त्राहि-त्राहि चिल्लाते हुए भाग खड़े होते। विद्या में भी ये दैत्य देवों से रंचमात्र कम न थे। इन दैत्यों और देवों के बीच सनातन वैर था। सूर्य उगे बिना रहे, तो देव-दानव लड़े बिना रहें।

देवों को मारना, पीटना, सताना; दुनिया में खाना, पीना और मौज उड़ाना; इस तरह बरतना, मानो दुनियाँ में दूसरा कोई है ही नही; ये सब काम थे, जिनमें दैत्यों को अनोखा आनन्द आता था। देव बेचारे ग़रीब ठहरे; अधर्म करते उनका दिल काँपता था; इन्द्रियों के संयम पर उन्हे श्रद्धा थी; समूचे विश्व का नियंत्रण करने वाली सत्ता में उनकी आस्था थी; बेचारे कपट-युद्ध में हारते, तो दौड़कर भगवान् विष्णु के पास जाते, और उनके सामने अपना दुखड़ा रोते।

एक बार युद्ध में देव केवल हारे ही नही, बल्कि सर्वनाश के किनारे पहुँच गये। देवों के अनेक योद्धा जो धरती पर गिरे, सो फिर उठे ही नहीं; और इस तरह उनकी सेना क्षीण होने लगी। इन्द्र, अग्नि, और वरुण के समान धुरन्धरों को चिन्ता ने ग्रस लिया। अन्त में त्रस्तहोकर सभी भगवान् विष्णु के पास पहुँचे, और हाथ जोड़कर बोले—"प्रभो! अब तो हम मर गये। ये दानव हमें सुख से नहीं रहने देंगे। ये जब युद्ध करने निकलते हैं, तो न जाने कैसे इनकी सेना जैसी की वैसी बनी

रहती है ! किन्तु हम तो क्षीण होते चले जा रहे हैं। प्रभो ! अब आप ही हमे मार्ग दिखाइये ।"

भगवान् ने कहा—"देवो ! मै सब समझता हूँ; मेरे पास इसका उपाय भी तैयार है। जब तक आप सब अमृत नही पियेंगे, तब तक आपके लिए कोई निस्तार नही; अतएव श्रेष्ठ उपाय तो यही है कि आप सब अमृत पियें ।"

एक देव ने कहा—"प्रभो ! लाइये न, अभी ही पी लें। हम कौन इन्कार करते हैं।"

विष्णु बोले—"अमृत किसी और ने आपके लिए तैयार करके नही रक्खा है; वह तो आपको स्वयं प्राप्त करना होगा ।"

इन्द्र ने नम्रतापूर्वक पूछा—"प्रभो ! कृपया बताइये, हम यह अमृत कैसे प्राप्त कर सकते है ?"

विष्णु ने कहा—"इस अमृत की प्राप्ति के लिए तो आपको सागर का मन्थन करना पड़ेगा ।"

"सागर का मन्थन ?" अग्नि ने पूछा।

"सागर के जल को बिलोना होगा ?" वायु बोले।

भगवान् ने उत्तर दिया—"हाँ, सागर का मन्थन करना होगा। किन्तु ऐसे महान् क्षीर सागर को बिलोना अकेले आपके बूते की बात नही ।"

"तो फिर हमें क्या करना चाहिए ?" इन्द्र ने पूछा।

"इस मन्थन मे आप दैत्यो को भी अपने साथ रक्खें।"

"प्रभो ! तब तो हम बेमौत मर जायेंगे। यदि मन्थन में दैत्य भी साथ रहे, तो वे अमृत को हाथोंहाथ उठाकर ले भागेंगे। हमारे हिस्से तो मन्थन में पसीना बहाना ही रह जायगा !" इन्द्र ने कहा।

भगवान् बोले—"भाइयो ! बात ऐसी नहीं। ज़रा धीरज से काम लो। समूचे सागर को बिलोना तुम्हारे सामर्थ्य की बात नहीं है। तुम दैत्यों के साथ मिलकर ही यह मन्थन करो। मैं भी इस मन्थन में तुम्हारे साथ हूँ न ? प्रबन्ध ऐसा किया जायगा कि मन्थन का अमृत तुम्ही को मिले, और दैत्यों को न मिले। तुम इसकी चिन्ता न करो।"

फिर तो देवों ने दैत्यों को समझाया, और अमृत की लालसा से दैत्य बड़े उत्साह के साथ उनके सहयोगी बन गये। ऐसे महान् मन्थन के लिए मन्दार पर्वत की मथानी बनाई गई, और वासुकी से रस्सी का काम लिया गया।

भगवान् विष्णु, देव और दैत्य सागर का मन्थन करने लगे। वासुकी को मन्दार के चारों ओर लपेटकर उसका मुँहवाला भाग विष्णु ने और देवों ने पकड़ा, और पूँछवाला भाग दैत्यों के लिए रक्खा। इस पर दैत्य गुस्सा हो गए। बोले—"तुम मुँह के पास का उत्तम भाग पकड़ो, और हमारे लिए पूँछवाला हिस्सा रहने दो, यह कैसे हो सकता है ? हमें मुँहवाला भाग पकड़ने दो।"

इन्द्र, अग्नि आदि सोच में पड़ गए—"यह तो सिर मुँडाते ही ओले पड़े ! पहले ही कौर में मक्खी ! अभी अमृत तो निकला नही, और झगड़ा शुरू हो गया ?"

किन्तु विष्णु ने देवों के कान में कहा—"यह जगह इन उलटी खोपड़ीवालों के लिए ही है। यहाँ मुँह के पास वासुकी के विष की लपटें उठेंगी। इस जगह उन्हें ही रहने दो; और चलो, हम सब पूँछ के पास चलें।"

अन्त में देवों ने पूँछवाला भाग पकड़ा, और दैत्यों ने मुँहवाला भाग सँभाला।

और फिर तो घम-घम, घमाघम, घमाघम, घमर, घमर मन्थन का काम शुरू हुआ। मन्दार एक चक्कर घूमता और सागर सारा तले-ऊपर हो जाता—उसकी सतह पर झाग ही झाग छा जाते !

कुछ ही देर बाद मन्दार पर्वत समुद्र के अन्दर धँसने लगा। मन्दार के लिए नीचे टिकने का कोई सहारा न था; इसलिए वह अन्दर जाने लगा, और देवों के हाथ की रस्सी खिंचने लगी। देव घबराए। मथानी को टेका किस चीज का दिया जाय ? मन्दार पर्वत-जैसी मथानी के लिए मामूली टेके से क्या काम चले ? देवों ने सोचा, बाजी बिगड़ना चाहती है। इतने में भगवान् बोले—"और कोई उपाय न हो, तो मैं स्वयं कछुए का रूप धारण करके मन्दार को अपनी पीठ का आधार दूँगा। आप सब हिम्मत न छोड़िये। मन्दार को बराबर टेककर सागर को बिलोते रहिये।"

देवों के हर्ष का पार न रहा।

भगवान् विष्णु कछुआ बने। कछुए की पीठ पर मन्दार को टिकाया गया, और देवों व दानवों ने फिर मन्थन शुरू किया। मन्दार के घम-घम घूमने से सागर का जल बिलोया जाने लगा, जलचर सभी कुचले जाने लगे, और कुछ देर बाद अन्दर से सुरभि नाम की गाय बाहर निकली। सुरभि गाय को बाहर आई देख कुछ देवों और कुछ दानवों ने रस्सी खीचना बन्द कर दिया, और वे गाय के लिए आतुर बन गये।

'यह गाय मेरी है !"

"यह सुरभि तो हम लेंगे !"

कुछ क्षणों के लिए वहाँ थोड़ा कोलाहल-सा मच गया; मन्थन शिथिल पड़ने लगा; इतने में सागर के अन्दर से गंभीर आवाज़ आई — "मन्थन चलने दो; मन्थन शिथिल न करो। इस सुरभि के जैसे तो

अनेक पदार्थ मन्थन के कारण प्राप्त होंगे। किन्तु हमें इनसे कोई मतलब नहीं; हमें तो अमृत से काम है। जब तक वह अमृत न निकले, हमें आराम नही करना है। ये सुरभि आदि जो पदार्थ निकलेंगे, उनके उपयोग की बात हम बाद में सोच लेंगे।"

देव दानव जान गये कि यह तो स्वयं भगवान् ही बोल रहे है; इसलिए उन्होंने फिर से रस्सी कसी, और मन्थन पूरे वेग के साथ शुरू हो गया। फिर तो मन्थन से वारुणि निकली, पारिजातक प्रकट हुआ, अप्सरायें उत्पन्न हुई, कौस्तुभ मणि बाहर आई, शांत शीतल चन्द्रमा ऊपर आया, और उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा सतह पर आ गया। जब तक ये सब चीजें निकलती रही, देव और दानव दृढ़ रहे, और मन्थन में कोई शिथिलता न आई। किन्तु मन्थन करते-करते जब मक्खन की तरह हलाहल विष ऊपर तैर निकला, और उस विष से ज्वालायें प्रकट होने लगीं, तब तो सभी घबराये। सब सोचने लगे कि अब घड़ी दो घड़ी में प्राणिमात्र का संहार हो जायगा। देव और दैत्य तो मथानी और रस्सी छोड़कर भागने लगे, और हलाहल विष ने उनका पीछा किया। देवों ने पुकारा—"हे प्रभो ! अमृत निकालते-निकालते यह तो विष निकल आया। बचाओ, प्रभो बचाओ !"

पुनः एक बार सागर के अन्दर से धीर गंभीर वाणी सुनाई पड़ी—"घबराओ मत। ऐसे समुद्र-मन्थन से तो विष भी निकलता है, ओर अमृत भी। यदि हमें अमृत लेना है, तो विष को पचा जाने की शक्ति अकेले एक महेश्वर में है। प्राणिमात्र के हित के लिए वे यह विष पी लेंगे। ऐसे प्राण-घातक विष को पीने का अधिकार महेश्वर-जैसों को ही है।"

सबने काँपते हुए हृदय से यह सब सुना, और फिर जब शंकर ने उस विष को अपने गले में स्थान दिया, तब फिर से मन्थन के काम

में लगे। अब तो मथानी दुगने वेग से घूमने लगी; दानव आँख मूँदकर रस्सी खींचते ही रहे; और थोड़ी ही देर में अमृत का कलश हाथ में लिये धन्वन्तरी फेन पर दिखाई पड़े।

"आया, आया ! अमृत निकल आया !"

सबने मथानी और रस्सी फेंक दी। दानवों ने तो सीधे धन्वन्तरी के हाथ में रक्खे अमृत-कलश पर ही धावा बोल दिया।

अब क्या हो ? देव भी अमृत लेने दौड़े; किन्तु वह तो कभी का दैत्यों के हाथ में पहुँच चुका था !

देव बहुत ही घबरा गये—"हमने कहा नही था कि दैत्यों को साथ रखेंगे, तो अमृत की एक बूँद भी हाथ नही आयगी !"

विश्व के सत्त्व भी घबरा उठे—"जो दैत्य आज बिना अमृत के प्राणिमात्र से त्राहि-त्राहि बुलवाते है, वे सब अमृत पी लेंगे, तो ब्रह्मा, की सृष्टि कैसे चलेगी ?"

इस बीच मन्थन के समाप्त होने पर भगवान् विष्णु ने मोहिनी स्वरूप धारण किया और वे समुद्र के किनारे आये। सुन्दर शरीर, सुकोमल हाथ, पतली कमर, मनोहर चाल, और इन सबसे बढ़कर मधुर-मृदु हास्य !

मोहिनी को देखते ही दैत्य तो पागल हो उठे; वे अपनी सुधबुध खो बैठे और किसी अदृश्य पाश से बँधकर मानो उसकी ओर खिचने लगे। दैत्यमात्र की इन्द्रियों में भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया। उनकी आँखों और उनकी वाणी का कोई ठिकाना न रह गया, और वे सब मदोन्मत्त बनकर नाचने, कूदने व खेल-तमाशे करने लगे। दैत्यों की इस मोहावस्था के बीच वह अमृत-कलश मोहिनी के हाथों में आ गया। मोहिनी ने दैत्यों को हँसाया, फुसलाया, नचाया, कुदाया, खेल खिलाये, आगे-पीछे दौड़ाया

और ज्यों-त्यों करके सब अमृत देवोंको पिला दिया। काम समाप्त करके मोहिनी अदृश्य हो गई।

राक्षसों में केवल एक राहु चुपचाप अमृत पी सका था। किन्तु अभी अमृत उसके गले के नीचे उतरा ही था कि इतने में उसका सिर धड़से अलग हो गया।

देव सब अमृत पीकर अमर बने। मन्थन समाप्त हुआ। मन्दार और वासुकी अपने-अपने स्थान को चले गये। और दैत्य आपस में लड़ते, झगड़ते, झल्लाते, देवों को सताने की नई-नई योजनाओं पर विचार करने लगे।

: ७ :

सच्चा यज्ञ

"महाराज ! आप तो अनेक युगो की बातें जानते है। आज हमारे यहाँ जैसा यज्ञ हो रहा है, क्या वैसा पहले किसी ने किया था ?" भीमसेन ने श्रीकृष्ण से पूछा।

सब भोजन से निवृत्त होकर राजमहल के चबूतरे पर बैठे हाथ धो रहे थे। भगवान् वेदव्यास, भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, सभी थे।

'और सखा ! एक बात पूछूँ ? यज्ञ तो कई हुए होंगे; किन्तु देश-विदेश के राजा-महाराजा युधिष्ठिर के चरणों मे अपने मुकुट रक्खे, देश-विदेश के भण्डार यज्ञ के लिए खाली हो जायँ, देश-विदेश के राज-कुमार साधारण सेवक बनने में प्रतिष्ठा अनुभव करे, चौबीसों घण्टे वेदध्वनि होती रहे, प्रतिदिन एक लाख पत्तलें पड़ें, ब्राह्मणों को सारे जीवन की कमाई से भी अधिक दक्षिणा मिल जाय, और अग्निदेव को इन वर्षों में इधर कभी न मिला हो, उतना घी इस एक ही यज्ञ में मिल जाय, ऐसा यज्ञ तो मेरे विचार में, जब से यह दुनिया बनी है, तब से आज तक यह पहला ही हुआ होगा। आपका क्या विचार है ?" अर्जुन ने छाती फुलाते हुए पूछा।

युधिष्ठिर एक ओर बैठे, सिर झुकाये, हाथ धो रहे थे। उनके कान इस तरफ़ लगे हुए थे।

श्रीकृष्ण ने भगवान् वेदव्यास की ओर देखा; दोनों एक क्षण के लिए मन ही मन मुस्कराये, दोनों जगज्जूने योगी बात का मरम समझ गये।

इतने में नकुल बोल उठा—"जरा देखिये तो! यह कैसा विचित्र प्राणी है?"

भीम ने कहा—"इसमें देखना क्या था? यह तो नेवला है। तुम नेवले को नहीं पहचानते?"

नकुल बोला—"किन्तु यह कैसा नेवला? आधा पीला और आधा मटमैला?"

श्रीकृष्ण बोले—"दीखता तो नेवला ही है; कहिये व्यासजी, ठीक है न?"

"हाँ, आकृति तो नेवले की है, किन्तु है विचित्र! आधा शरीर सोने की तरह दमक रहा है।" व्यास ने शान्तिपूर्वक जवाब दिया।

युधिष्ठिर को जिज्ञासा हुई—"यह यहाँ, इस जूठन में, अपना बदन क्यों घिस रहा है?"

भीम बोला—"भैया, जब जानवरों को खुजली चलती है, तो सब ऐसा ही करते हैं।"

सहदेव ने कहा—"लेकिन यह तो घिसता ही चला जाता है। बारी-बारी से सिर, पैर, पीठ, अगल-बगल, सभी इस जूठन मे घिसा करता है। नेवले तो बहुत देखे हैं; लेकिन ऐसा तो जीवन में कभी नहीं देखा!"

"अच्छा, तो हम इसकी जाँच करें।" व्यास भगवान् बोले। उन्होंने अपने कमण्डल के पानी से अँजुली भरी, मंत्र पढ़ा और अँजुली का पानी नेवले पर छिड़का। छिड़कते ही वह मनुष्य की भाषा में बोलने लगा—"झूठा है, झूठा है; युधिष्ठिर का यह यज्ञ झूठा है!"

सब के कान खड़े हो गये। युधिष्ठिर महाराज खिसिया गये; भीम और अर्जुन मन-ही-मन दहशत खा गये, पर ऊपर से हिम्मत दिखाते रहे।

अर्जुन ने कहा—" वाह रे अनोखे नेवले ! ऐसे यज्ञों का क्या महत्त्व और मूल्य है, सो तेरे समान क्षुद्र प्राणी क्या समझें ?"

भीमसेन ने ललकारते हुए कहा—"नेवले ! तू बाल-बच्चोंवाला होगा; इसलिए कहता हूँ, जा, झटपट अपने बिल मे घुस जा। जानता है, मै कौन हूँ ?"

"झूठा, झूठा, यह यज्ञ झूठा है !"

श्रीकृष्ण आगे बढ़े—"हे नकुल ! तू नही जानता कि अर्जुन ऐसे महान् यज्ञ को झूठा कहनेवाले की जीभ काट लेगा। और यह असंभव है कि सत्यवादी युधिष्ठिर के यज्ञ को तू खोटा कहे, और भीमसेन तुझे चूर-चूर न करे। इसलिए सोच-समझ कर बोल; यह ढिठाई तुझे महँगी पड़ जायगी।"

"झूठा, झूठा, यह महायज्ञ झूठा है ! आप सब तो देव पुरुष हैं। आप और भगवान् व्यासजी तो समूचे संसार का हृदय पढ़ सकते है। मै अपनी बात आपके सामने रखता हूँ। पहले आप उसे सुनिए, और फिर सोचिए कि मेरा कहना यथार्थ है या नही।" नेवले ने जवाब दिया।

"अच्छी बात है। सब सावधान ! सुनो। बोल भाई, तुझे क्या कहना है।" व्यास जी ने कहा।

नेवले ने कहना शुरू किया—

"महाराज ! नैमिषारण्य में एक ब्राह्मण कुटुम्ब रहता है। ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उसका पुत्र और पुत्रबधू। वह अपना सारा जीवन तप और उपासना में बिताता है। चारों प्राणी उंछवृत्ति से अपना निर्वाह करते

है। हर सोमवार को ब्राह्मण और उसका पुत्र दोनों खेत में जाते है, और किसानो के खलिहान से अनाज घर ले जाने के बाद जो दाने वहाँ बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें बीनकर घर ले आते है। ब्राह्मणी और उसकी पुत्रबधू दोनों उसे झाड़-झटककर और बीन-चुनकर साफ़ करती है। सत्तू बनाती है, ओर चारों चार भाग करके उसे खा लेते है। इस तरह सप्ताह मे एक दिन, सोमवार को, वे अपने शरीर को भाड़ा देते है; शेष समय मे वे भले, उनका तप भला, और भले उनके महेश्वर !

एक दिन सोमवार को ब्राह्मण और उसका पुत्र खेतों से पायली, दो पायली अनाज बीन कर लाये। घर मे सास-बहू ने मिलकर उसका सत्तू तैयार किया, और पलास के पत्तों के दोने बनाये। ठीक मध्याह्न का समय हुआ; ब्राह्मण की उपासना पूरी हुई; सब भोजन के लिए अपने-अपने आसन पर आ बैठे। ब्राह्मणी ने चार दोनों मे सत्तू परोसा, इतन में बाहर से आवाज़ आई––"**भवति, भिक्षां देहि!**"

ब्राह्मण तुरन्त ही दोना छोड़कर उठ खड़ा हुआ। द्वार पर जाकर बोला––"महाराज! पधारो, स्वागतम्।"

द्वार पर अस्सी वर्ष का एक बूढ़ा खड़ा था; ऊँचा, पूरा, क़दावर शरीर, किन्तु जर्जर हो चुका था; हाथ की लाठी थरथर काँपती थी; पेट पीठ से चिपका हुआ था।

"महाराज ! पधारो।" ब्राह्मण, बूढ़े अतिथि को अपने हाथ का सहारा देकर अन्दर ले गया, और उन्हे दर्भ के आसन पर बैठाया।

"महाराज ! क्या आज्ञा है?" ब्राह्मण ने दोनों हाथ जोड़कर पूछा।

"मुझे भूख लगी है।"

"महाराज ! भोजन तैयार है; पधारिये ।"

"मैं एक डग भी नहीं चल सकता, भाई ! जो हो, यहीं ले आओ ।" बूढ़े ने लाठी एक ओर रक्खी, और सिर पर लपेटा हुआ दुपट्टा एक तरफ़ रख दिया ।

"यहाँ चूहे वग़ैरा तो नहीं हैं न ? इस दुपट्टे में थोड़े कोदों बँधे हैं।" बूढ़े ने पूछा ।

"नहीं, महाराज ! झोंपड़ी मे एक भी चूहा नहीं है ।"

"तो बहुत अच्छा । लेकिन, वैसे, यह अचरज की बात तो है कि तुम्हारे घर मे चूहे का नाम नहीं ! अच्छा, अब मै तैयार हूँ । भोजन लाओ।"

ब्राह्मणपुत्र पिता का दोना ले आया और लाकर बूढ़े के सामने रख दिया । बूढ़े का हाथ दोने पर पड़ा कि फिर पूछना क्या था ? बात की बात मे सब साफ़ !

"महाराज ! और मँगवाऊँ ?" ब्राह्मण ने नम्रतापूर्वक पूछा ।

"अभी भूख तो है; कुछ हो तो लाओ ।"

तुरन्त ही ब्राह्मणी का दोना बाहर आया, और आते ही चट हो गया !

"महाराज ! इच्छा............?"

ब्राह्मणपुत्र का दोना आया, और आते ही आते साफ़ हो गया !

"महाराज ! और कुछ..........!"

"जगह तो है, किन्तु तेरी पुत्रवधू सगर्भा है; इसलिए उसका भाग नही खाऊँगा ।" कहते-कहते बूढ़े अतिथि खड़े हो गये ।

बूढ़े अतिथि ने हाथ धोये, मुँह साफ़ किया, कोने में रक्खा दुपट्टा याद करके उठाया, और हाथ में लाठी थामते हुए बोले—"आते समय तो

मैं यों ही चला आया था, पर अब मुझे रास्ता नहीं सूझेगा; ज़रा साथ चलकर कुछ दूर मुझे छोड़ आओ।"

ब्राह्मण का लड़का बूढ़े को एकाध कोस तक छोड़कर वापस आया।

फिर तो चारों अपने काम से फ़ुरसत पाकर पुनः उपासना में लीन हो गये। शरीर-यात्रा के लिए जितना समय निश्चित किया था, वह बीत गया, और चारों शरीर फिर अपने काम मे जुट गये।

दूसरे सात मध्याह्न बीत गये, सात रातें बीती, सात दिन के जप पूरे होने लगे, और फिर एक बार सोमवार का दिन उगा। सवेरे ब्राह्मण-पुत्र खेतों से दाना बीन लाया, और लाकर माँ को दिया कि वह राँधे।

"आज तो तेरे पिता जल्दी फ़ुरसत पा जायँ, तो अच्छा हो। देह उनकी कुम्हलाने लगी होगी।" कहते-कहते माँ की आँखें सजल हो आईं।

"माँ ! मुझसे तो कुछ कहा नहीं जायगा। तुम कहना चाहो, कहो।"

ठीक दोपहरी हुई, सूरज सिर पर तपने लगा, पेड़ों की परछाईं सिमट गई, और समूचा नैमिषारण्य एक क्षण के लिए थम-सा गया। ठीक इसी समय ब्राह्मण अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए बैठा। ब्राह्मण का हाथ दोने से उठकर मुँह की ओर बढ़ ही रहा था कि फिर--"**भवति, भिक्षां देहि !**" की आवाज़ आई।

हाथ का कौर फिर दोने में चला गया। और "पधारो, पधारो, महाराज।" कहता हुआ ब्राह्मण द्वार की ओर चला। ब्राह्मण ने बाहर झाँककर देखा, तो वही बूढ़ा, वही रूप रंग, वही लाठी और वही पीठ से चिपका पेट।

"पधारो, पधारो महाराज !"

"भाई ! मुझसे दहलीज चढ़ी नही जाती। तुम मुझे उठाकर अन्दर ले चलो, तो चल पाऊँ।"

ब्राह्मण के दुर्बल हाथ फैल गये। उसने बूढ़े को सँभालकर उठाया, और यों अतिथि घर मे आया।

"महाराज ! क्या आज्ञा है ?"

"दोपहर का समय है। मै भूखा तो हूँ, किन्तु तुम्हारे यहाँ क्या प्रबन्ध है, सो तुम जानो।"

"महाराज ! भोजन तैयार है; स्वीकार कीजिये।"

"किन्तु अभी तो मेरा स्नान भी बाकी है। बुढ़ापा आ गया, और करने धरने वाला कोई नही।"

"तो आप नदी में स्नान करके आइये।"

"मै नदी पर कैसे जाऊँ, भाई ! मुझसे चला नही जाता। मै तो इसी शिला पर बैठकर नहा लूँगा। मुझे पानी दो।"

तुरन्त ही पुत्रवधू मटके लेकर नदी पर गई, और वहाँ से पानी लाकर बूढे को यथेच्छ नहलाया। नहा-धोकर बूढ़े अतिथि भोजन को बैठे।

एक दोना आया ओर चट ?

दूसरा दोना आया और चट !

तीसरा दोना आया और चट !

"अभी भूख तो शेष है, किन्तु सगर्भा स्त्री के हिस्से का अन्न मुझे हज़म नही होगा।" कहते हुए वृद्ध अतिथि ने हाथ धोये, मुँह साफ़ किया और लाठी लेकर वह अपनी राह चल दिये।

दूसरे सोमवार का मध्याह्न समाप्त हुआ; सूर्यनारायण पश्चिम

के पथिक बने, और यह ब्राह्मण कुटुम्ब फिर अपनी देह को भूलकर महेश्वर की सेवा में लीन हो गया।

सात प्रखर मध्याह्न बीते; लम्बी-लम्बी सात रातें बीतीं; लम्बे-लम्बे सात दिनों की उपासनायें समाप्त होने आईं। और फिर वही सोमवार का सूर्य पूर्वाकाश में प्रकाशित हो उठा।

आज तो ब्राह्मण कुटुम्ब की क्षीण देहों में नई चेतना उछल रही थी। सुबह-सुबह पुत्र खेतों में पहुँचा और दाना बीन लाया; सास-बहू ने भोजन की तैयारी की। ब्राह्मण तो आज अपने आपमें इतना आनन्दमग्न था, मानो अन्तरतर में इष्टदेव का साक्षात्कार कर रहा हो!

दोपहर के बारह बजे; सूर्यनारायण का रथ आकाश में क्षणभर रुका, समस्त सृष्टि एक क्षण के लिए शान्ति में निमग्न हो गई और इधर ब्राह्मणी पति की राह देखती बैठी।

किन्तु ब्राह्मण उठे तब न? आज बाईस-बाईस दिन के उपवास हो चुके हैं, फिर भी ये उठ क्यों नहीं रहे? ब्राह्मण तो उपासना में लीन था, ध्यान ही ध्यान में आज वह अपने इष्टदेव का सामीप्य अनुभव कर रहा था, उसकी देह. उसकी इन्द्रियाँ, मन आदि सभी आज इस ध्यान-दर्शन में रम गये थे और ऐसी कोई वस्तु प्राप्त कर रहे थे, जो दुनिया के समस्त पौष्टिक भक्ष्यों से व उत्तम से उत्तम विलास-सामग्री से भी मिल नहीं सकती था। ब्राह्मण बहुत देर बाद अपनी इस दशा से जागृत हुआ, उसे याद पड़ा कि आज सोमवार है, यह सोचकर वह सहज दुःखी हुआ कि दूसरे सब उसकी राह देखते बैठे हैं। वह तुरन्त ही भोजन करने आया। किन्तु उसका मन तो अभी भी अपनी गहराई में महेश्वर के ही ध्यान में लीन था।

ब्राह्मण ने दोने में हाथ डाला और बाहर से फिर वही आवाज सुनाई पड़ी—"**भवति, भिक्षां देहि !**"

ब्राह्मण तत्काल उठ खड़ा हुआ। बूढ़े अतिथि को अन्दर लाया और भोजन के लिए बैठाया।

पहला दोना साफ, दूसरा दोना साफ, तीसरा दोना भी साफ।

"महाराज ! कुछ और लेंगे ?"

"हाँ।"

सगर्भा वधू का चौथा दोना भी साफ !

बूढ़े अतिथि वैसे रोज भोजन के बाद धीमे-धीमे हाथ-मुँह धोते, लाठी सँभालते और फिर धीरे-धीरे चलने लगते। पर आज तो झट-पट खाकर हाथ धोने को दौड़े और हाथ धोये न धोये कि इतने में अदृश्य हो गये। ब्राह्मण ने बाहर आकर तलाशा, देखा, किन्तु वृद्ध कहीं दिखाई न पड़े ! घर के सभी उन्हें खोजने लगे। इसी समय देव-मंदिर से अशरीरिणी वाणी सुनाई पड़ी—"ब्राह्मण ! जिस देव को तू ढूँढ़ रहा है, वह मैं स्वयं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूँ। माँग, माँग ! मैं तेरी निष्ठा पर बलि-बलि जाता हूँ !"

ब्राह्मण मन्दिर की ओर दौड़ा। जिस प्रभु के दर्शनों के लिए जीवनभर कठोर तपस्या की, वही आज हृदय में प्रत्यक्ष हो उठा, यह देख ब्राह्मण की आँखों से हर्ष के आँसू बह चले और वह बोला "हे प्रभो ! मैं क्या माँगूं ? आप तो समूचे विश्व का साम्राज्य देने की शक्ति रखते हैं, किन्तु मैं उसे क्या करूँ ? मैं तो एक ही वस्तु माँगता हूँ; आप मेरे हृदय से कभी न हटें। किसी भी दशा में मैं आपको न भूलूँ। प्रभो ! मुझ पर बड़ी दया की !"

नेवले ने ब्राह्मण की कथा आगे सुनाते हुए कहा—"उसी समय में

नैमिषारण्य में घूमता-भटकता उस पर्णकुटी के पास जा पहुँचा और बूढ़े के हाथ की जूठन जिस जगह पड़ी थी, उधर से निकला तो वह जूठन मेरे शरीर में लग गई। जहाँ-जहाँ वह लगी थी, उतना-उतना मेरा शरीर सोने का हो गया। यह देख मैं उस जूठन में लोटने लगा। लेकिन जूठन तो थोड़ी ही थी, इसलिए मेरा अधा शरीर ही सुनहला हो पाया।

"मै घबराया। अपने शेष शरीर को सुनहला बनाने के लिए मैंने अनेक ऋषियों की सलाह ली है, और जहाँ-जहाँ यज्ञ होता है, वहाँ-वहाँ हाथ धोने से इकट्ठा हुई जूठन में लोटता हूँ, लेकिन आज तक मेरा एक भी रोआँ सुनहला नहीं बना।

"मुझे मालूम हुआ कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़ा यज्ञ कर रहे हैं, और भगवान् वेदव्यास जैसे आचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण जैसे सम्बन्धी वहाँ उपस्थित हैं; इसलिए मैंने सोचा कि अपने बाक़ी के आधे अंग को सुनहला बनाना हो, तो मुझे यह अवसर चूकना न चाहिए। इसी हेतु मै नैमिषारण्य से चलकर यहाँ आया हूँ, और आप देख रहे हैं कि बड़ी देर से, आपके समान देव पुरुषों के हाथ की जूठन का जो ढेर यहाँ पड़ा है, उसमें लोट रहा हूँ। मैं अपने शरीर को सुनहला बनाना चाहता हूँ, इसलिए मैं लोट तो रहा हूँ, पर आप देखते हैं कि अभी तक मेरा एक भी रोम सुनहला नहीं हुआ, महाराज !

"इसीलिए मैं कहता हूँ कि महाराज युधिष्ठिर का यह यज्ञ खोटा है, झूठा है ! सच्चा यज्ञ तो नैमिषारण्य के उस ब्राह्मण का है।

"यह है मेरी कथा। अब धनुर्धारी अर्जुन और गदाधारी भीम मेरे साथ जैसा सलूक करना चाहें, सहर्ष करें !"

भीम ने अर्जुन की ओर देखा; युधिष्ठिर सिर नीचा किये ज़मीन कुरेदने लगे; भगवान् वेदव्यास ने नेवले से जाने को कहा और

श्रीकृष्ण बोले—''महाराज युधिष्ठिर ! समय बहुत हो चुका है। चलिये, अब हम दुपहर के अपने काम में लगें। ऋत्विज सब बैठे हमारी राह देखते होंगे।''

मण्डली सब उठी और यथा स्थान गई।

फिर भी हवा में तो यही ध्वनि उठ रही थी—''सच्चा यज्ञ तो नैमिषारण्य के ब्राह्मण का ही था !''

: ८ :

'मृदूनि कुसुमादपि'

कुरुक्षेत्र के मैदान पर लड़ाई की तैयारियाँ हो रही थीं। एक ओर कौरव अपनी छावनी डाले पड़े थे। कौरवराज दुर्योधन की सहायता के लिए आये हुए भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण आदि के तम्बू तने थे; कौरवों की और उनके माण्डलिक राजाओं की मिलकर ग्यारह अक्षौहिणी सेना वहाँ डटी थी; हजारों हाथियों और घोड़ों की रेल-पेल थी। सूर्य के प्रकाश में चमकते हुए भालों और तलवारों का वह समूह; तीखी नोक वाले प्राणघाती तीर, और अपने धनुष के टंकार से लोगों को थरथराने वाले योद्धा; ये सब एक ओर डटे थे। दूसरी तरफ महाराज युधिष्ठिर की छावनी थी। पाण्डवों की प्राणरज्जु-से श्रीकृष्ण, गाण्डीवधारी अर्जुन, गदा से अपने शत्रुओं को चूर-चूर करने के लिए कटिबद्ध भीम, पूर्वावस्था का बदला लेने के लिए तत्पर धृष्टद्युम्न, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु, इस समूचे भीषण युद्ध की अधिष्ठात्री देवी सती द्रौपदी—ये सब दूसरी ओर डेरा डाले थे।

तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं; दोनों पक्षों की सहायता के लिए आने वाले राजा आ चुके थे; दोनों पक्ष के लिए आवश्यक साधन-सामग्री आ पहुँची थी; दोनों पक्ष अपनी-अपनी मन्त्रणायें कर चुके थे; दोनों तरफ के लोग प्रस्तुत प्रसंग के लिए तैयार थे। अब तो देर इसी बात की थी कि कब अगला दिन उगे और कब पहला तीर छूटे।

कुरुक्षेत्र के मैदान की दोनों छावनियों के बीच एक छोटी-सी टेकरी थी। टेकरी की एक खोह में एक टिटहरी ने अपना घोंसला बनाया था और बच्चों के साथ वह उसमें रहती थी।

युद्ध की तैयारियाँ देखकर टिटहरी बहुत ही घबरा गई—"ऐसे महाभारत युद्ध में जो सनसनाते हुए तीर छूटेंगे, उनसे बिंधकर मैं मर भी जाऊँ तो मुझे दुःख न होगा; किन्तु मेरे इन बच्चों का क्या हो ?" बच्चों की सार-सँभाल के विचार से टिटहरी का मातृ-हृदय विकल हो उठा—"किन्तु, मैं क्या करूँ ? इतने सारे छोटे-छोटे बच्चों को कहीं ले भी तो नहीं जा सकती। हे भगवन्, ये साँड़ यहाँ लड़ेंगे और इनसे हमें कौन बचायेगा ? हम कैसे बचेंगे ? इन अनगिनत हाथियों और घोड़ों का खून जहाँ बहेगा, वहाँ मेरे इन बच्चों की चिन्ता करने वाला भला कौन हो सकता है ?"

पर टिटहरी तो बच्चों की माँ ठहरी ! चाहे आशा छोड़ दे, किन्तु क्रन्दन कैसे छोड़े ? टिटहरी बराबर रोती और बिलखती रही।

क्या टिटहरी के इस विलाप को सुनने वाले कोई कान वहाँ नहीं थे ? मारो-काटो के उस वातावरण में इस छोटे से प्राणी के क्रन्दन के लिए कोई अवकाश न था ?

टिटहरी का वह क्रन्दन, उसका वह विलाप श्रीकृष्ण के कानों तक पहुँचा। समूचा ब्रह्माण्ड भी इस धर्म-युद्ध मे नष्ट हो जाय, तो जिसका रोआँ न फड़के, जिसे रंच-मात्र विषाद न हो, उन्हीं श्रीकृष्ण का हृदय इस टिटहरी के आर्तनाद से द्रवित हो उठा। माता के अन्तस्तल की गहरी चीत्कार ने उनको कँपा दिया।

श्रीकृष्ण टिटहरी के घोंसले के पास गये और टिटहरी पर व उसके बच्चों पर एक बहुत बड़ा-सा टोकना ढाँक आये।

अठारह दिन तक महाभारत की लड़ाई चलती रही; भारतवर्ष के असंख्य योद्धा उस युद्ध में स्वर्ग सिधारे; हाथियों और घोड़ों की तो गिनती ही क्या थी ? सारे कौरव रणशय्या पर सोये थे, भीष्म और द्रोण–जैसे भी काल के मुँह में समा गये थे। किन्तु टिटहरी का और उसके बच्चों का तो बाल भी बाँका न हुआ था !

ऐसे-ऐसे महाभारत युद्धों की रचना करनेवाले श्रीकृष्ण के हृदय में टिटहरी-जैसों के लिए स्थान था, इसीमें उनकी प्रभुता है।

: ६ :

गृहस्थाश्रम बड़ा या संन्यासाश्रम ?

एक था राजा।

राजा के नगर में बहुतेरी धर्मशालायें थी, बहुतेरे अन्न-क्षेत्र, और बहुतेरे साधुओं के अखाड़े। देश-परदेश के साधु, सन्त, दण्डी, परमहंस, संन्यासी सभी नगर में आते और जाते; कोई रात बसेरा लेकर चला जाता, तो कोई चातुर्मास वहीं बिताता, कोई वेदान्त की कथा करता, तो कोई सारा दिन यहाँ-वहाँ भटककर ही बिता डालता।

एक बार राजा के मन में विचार आया—"यह गृहस्थाश्रम ज्यादा अच्छा या संन्यास ज्यादा अच्छा ? शास्त्र में तो गृहस्थाश्रम को समूचे जीवन की नींव माना है। गृहस्थ के धर्मों का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। फिर भी लोग मान-सम्मान तो संन्यासियों का ही करते हैं। बेचारा वह ब्राह्मण सारा दिन गाँव के लड़कों को पढ़ाता है और गाँव में आटा माँगता है; तीन बच्चे हैं, और दो जने खुद हैं। पाँच प्राणियों को पेट-भर रोटी भी हिस्से नहीं आती। लेकिन दरवाजे में किसी गेरुए वस्त्रधारी ने पैर रक्खा कि लोग दौड़े ही समझिये—"हे महाराज ! मेरे घर भिक्षा पाने की कृपा कीजियेगा !" अगर संन्यास ही अधिक अच्छा हो, तो फिर राज-पाट छोड़कर मैं संन्यास ही क्यों न ले लूँ ? संन्यास से ही मोक्ष मिलता हो, तो मुझे भी यह सब छोड़कर चल पड़ना चाहिए।"

राजा तो गहरे सोच में पड़ गया और सोच ही सोच में उसने आज्ञा दे डाली--"आज से हमारे नगर में जो कोई साधु-संन्यासी आवे, वह सीधा मेरे पास लाया जाय। मैं उसके साथ इस प्रश्न पर चर्चा करूँगा कि ग्रहस्थाश्रम बड़ा है या संन्यासाश्रम ? अगर कोई संन्यासी सिद्ध कर देगा कि संन्यासाश्रम बड़ा है, तो मैं राजपाट छोड़कर संन्यासी बन जाऊँगा; किन्तु यदि यह निश्चय हुआ कि गृहस्थाश्रम बड़ा है, तो उस संन्यासी के गेरुए वस्त्र उतरवाकर उसे घर-गृहस्थी-वाला बना दूँगा।"

राजाज्ञा के छूटने की ही देर थी। नगर के द्वार पर पहरा देनेवाले सिपाही एक-के-बाद-एक साधु-संन्यासियों को हाजिर करने लगे। राजा की राजसभा-उसका दरबार-गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की चर्चा का स्थान बन गई। राजा ने अपने शास्त्रज्ञान से अच्छे-अच्छे संन्यासियों को मात कर दिया; बहुतेरे लेभग्गू संन्यासियों का संन्यास छुड़ाकर उन्हें गृहस्थ बना दिया, कुछ निर्मल संन्यासी शास्त्र की इस उधेड़बुन में न पड़ने के विचार से राजा के नगर को छेंक कर ही जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि १०-१२ महीनों के अन्दर ही नगर में संन्यासी नाम के प्राणी का आना ही बन्द हो गया, अन्न-क्षेत्र और धर्मशालायें उजाड़ हो गईं, और लोकहृदय मानो एक तरह की न्यूनता अनुभव करने लगा।

राजा के ये समाचार देश-परदेश में चारों तरफ़ फैल गये। किसी ने कहा--'राजा संन्यासियों को सताकर पाप की गठरी बाँध रहा है।' दूसरे किसी ने कहा--'अच्छा ही हुआ, जो इन लँगोटीवालों को राजा ने पकड़ा!' एक तीसरी आवाज उठी--'भला राजा क्यों शास्त्र की इस माथापच्ची में पड़ा है?' चौथी आवाज आई--'राजा को इसी की धुन लगी है, और वह हाथ धोकर इसके पीछे पड़ गया है।' राजा के

नगर में संन्यासियों का आना-जाना प्रायः बन्द होगया; किन्तु राजा के मन का समाधान तो हुआ ही नहीं।

इसी बीच एक बार विशुद्धानन्द नामका एक संन्यासी नगर में आ पहुँचा। कोई चौबीस वर्ष की उमर, गोरा रंग, सुन्दर मुखमुद्रा, आँख में और सारे शरीर में शुद्ध ब्रह्मचर्य का ओजस्, हाथ में दण्ड-कमण्डल और शरीर पर गेरुआ वस्त्र !

ज्योंही विशुद्धानन्द ने नगर के प्रवेश-द्वार में पैर रक्खा, त्योंही सिपाही ने राजा की आज्ञा सुनाई और उन्हें राजा के पास ले गया। विशुद्धानन्द को इस सब की कल्पना तो थी ही !

राजा दरबार में बैठा था, तभी विशुद्धानन्द को लेकर सिपाही वहाँ पहुँचा। संन्यासी को आता देखकर राजा खड़ा हो गया और उन्हें आदरपूर्वक आसन पर बैठाया।

"राजन् ! मुझे यहाँ क्यों बुलाया है ?" विशुद्धानन्द ने चर्चा छेड़ी।

"महाराज ! मेरे सिपाही ने आपसे सब बात कही ही होगी। मेरे मन मे इस बात को लेकर संशय उत्पन्न हो गया है कि गृहस्थाश्रम बड़ा या संन्यासाश्रम बड़ा ? इस संशय के मारे मैंने बहुतेरी शास्त्रीय चर्चाएँ करके देखीं, इस संशय के वश होकर मैंने अनेक त्यागियों को रागी बना दिया, इस संशय के कारण ही आज संन्यासियों ने मेरे द्वार पर आना छोड़ दिया है ! मुझे तय करना है कि गृहस्थाश्रम बड़ा है या संन्यासाश्रम; किन्तु यह निरे वाणि-विनोद के रूप में नहीं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि संन्यास बड़ा है, तो राजपाट छोड़कर मुझे संन्यास लेना है, और अगर यह सिद्ध हो कि गृहस्थाश्रम बड़ा है, तो आपको इन गेरुए वस्त्रों का त्याग करके गृही बनना है—घर बसाना है। इसी लिए आपको यहाँ हाजिर किया गया है।"

"राजन् ! तुम्हारा प्रश्न बहुत गम्भीर है।" विशुद्धानन्द ने गंभीर स्वर से कहा। "इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें छः महीने में दूगा। किन्तु उससे पहले तुम्हें मेरा उत्तर समझने का अधिकार प्राप्त करना होगा। उसके बिना मैं तुम्हें जवाब न दे सकूँगा।"

विशुद्धानन्द के ये शब्द, उनकी गंभीर मुखमुद्रा, उनके शब्दों का सामर्थ्य, उनके बोलने का ढंग, और इन सबसे बढ़कर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव राजा को अभिभूत करने के लिए पर्याप्त थे। राजा शह खा गया, दब गया, और बोला--"महाराज ! मुझे अधिकार किस तरह प्राप्त करना होगा ?"

"हाँ, सो मैं कहता हूँ। इन छः महीनों के अन्दर मैं जो कुछ करूँ, उसके बारे में तुम मुझे कुछ पूछना मत, और जो कुछ तुमसे करने को कहूँ, उसके लिए तुम फौरन ही तैयार हो जाना। जिस दिन तुम इन दो में से एक भी शर्त को तोड़ोगे, उस दिन मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

सन्यासी ने जताया।

राजा ने रुकते-रुकते जवाब दिया--"छः महीनों तक मैं इन सब नियमों का पालन करूँ, और फिर............भी...........आप........"

विशुद्धानन्द ताड़ गये बोले--"हाँ, तुम सब कुछ पालो और फिर भी मैं तुम्हारा सामाधान न करूँ तो क्या हो, यही न ? तो तुम मुझे कोल्हू मे पेर कर मेरा तेल निकालना !"

राजा ने विशुद्धानन्द की बात मान ली, उनके रहने-खाने का प्रबन्ध किया, और छः महीने पूरे होने की बाट जोहने लगा।

राजा प्रति दिन संन्यासी के दर्शन करने जाता, और जाने-अनजाने यह यत्न भी कर लेता कि स्वामी किसी तरह उसके प्रश्न की चर्चा

छेड़े। किन्तु स्वामी उस बात को क्यों याद करने लगे ? वह तो ऐसा बरताव करते, मानो असल बात भूल ही गये हों। राजा आता। वह राजा से देश-परदेश की टेढ़ी-सीधी बातें करते और राजा चला जाता। इस तरह आखिर पाँच महीने बीत गये राजा की अधीरता बढ़ने लगी— "कहीं ऐसा न हो कि यह लफंगानन्द छः महीनों तक मौज उड़ाकर रातों-रात भाग जाय और मैं बेवकूफ बनूँ ! लेकिन कहूँ कैसे ?"

इसी बीच एक बार राजा साँझ को स्वामी के दर्शन के लिए आया और स्वामी ने कहा—"राजन् ! कल सुबह हमें यात्रा के लिए जाना है, इसलिए तुम बड़े सवेरे तैयार होकर आ जाना, और अपना वेश इस तरह बदल लेना कि रास्ते में कोई तुम्हें पहचान न सके। यात्रा में पन्द्रह-बीस दिन लगेंगे, इतने समय के लिए जो प्रबन्ध करना हो, सो कर लेना।"

राजा ने रात में दीवान, कारबारी वगैरा सबको बुलाकर राज्य का प्रबन्ध कर लिया, और सवेरे एक साधारण आदमी के-जैसे कपड़े पहन-कर संन्यासी के स्थान पर हाजिर हो गया। संन्यासी और राजा दोनों यात्रा के लिए चल पड़े।

चलते-चलते मार्ग में एक शहर मिला। शहर में राजा की राज-कुमारी का स्वयंवर था; इसलिए राजमार्ग पर लोगों की भीड़ बेहद बढ़ गई थी, छाती से छाती पिसती थी ! देश-विदेश के राजकुमार न्योता पाकर आये थे; उनके डेरे-तम्बू गढ़ के बाहर तने थे। सारा नगर ध्वजा-पताकाओं और तोरणों से सजाया गया था। द्वार-द्वार पर नौबतें गड़-गड़ातीं और शहनाइयाँ बजती थीं। राजमहल की शोभा का पार न था।

संन्यासी ने कहा—"राजन् ! चलो, हम भी स्वयंवर देखने चलें।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

दोनों स्वयंवर के मण्डप की ओर चले। नगर के बाहर एक बड़े मैदान में मण्डप रचा गया था। मण्डप में देश-विदेश के राजकुमारों के लिए कतारबन्द सिंहासन सजा दिये गये थे, और कुछ राजकुमार तो आ पहुँचे थे। मण्डप का ठाट-बाट, उसके रत्नों से जड़े खम्भे, रंग-बिरंगी छतें, चाँदनियाँ, उसके सुनहले तोरण, उसके फूल-पत्तों की शोभा, खूबसूरत दीखने की राजाओं की चेष्टायें, उनकी गम्भीरता, उनके हास्य, उनकी मूर्खता, इन सबसे सारा मण्डप दीप्त हो रहा था।

संन्यासी और राजा दोनों ने मण्डप मे प्रवेश किया और द्वार के पास जहाँ ग़रीब-गुरबे देखने के लिए खड़े थे वहीं चुपचाप बैठ गये।

ठीक समय पर राजकुमारी एक पालकी में चढ़कर आई और ऊँची रंगभूमि पर हाजिर हुई। राजकुमार ने सारे मण्डप को सुनाते हुए बुलंद आवाज से राजकुमारी के स्वयंवर-संकल्प की घोषणा की, और तुरन्त ही सुवर्ण की वरमाला लेकर राजकुमारी मण्डप के बीच चल पड़ी।

राजकुमारी एक-के-बाद-एक राजकुमारो को निरखती जाती थी। सारे मण्डप मे बैठे हुए किसी भी राजकुमार पर उसका मन मुग्ध नहीं हुआ। अनेक राजकुमारों को पीछे छोड़ती जब राजकुमारी ठेठ मण्डप के दूसरे सिरे के पास जा पहुँची, तो सब की चिंता का पार न रहा।

इसी बीच सब राजकुमारों को निरखने और पीछे छोड़ने के बाद राजकुमारी ने दरवाजे के पास ज्यों-त्यों खड़ी-बैठी भीड़ की ओर एक दीन दृष्टि से देखा; बिजली की-सी चपलता से उसकी आँखों ने वहाँ बैठे संन्यासी को पकड़ लिया, ओर दूसरे ही क्षण वरमाला संन्यासी के

सभा सारी दिङ्मूढ़ बन गई! राजकुमार यह जानने के लिए आतुर हो उठे कि वरमाला किसको पहिनाई गई है; लोगों की भीड़ इस कौतुक को देखने के लिए आगे बढ़ी, राजकुमारी के माता-पिता द्वार की ओर चल पड़े।

लेकिन यह सब हुआ, उससे पहले तो मानो कई युग बीत गये; और संन्यासी के गले में वरमाला पड़ी, न पड़ी, तहाँ तो गले में पड़े साँप को अन्धा जिस तरह फेंक दे, उस तरह वरमाला को उसने उतार फेंका और वेग से दरवाज़े के बाहर निकल कर बेतहाशा भागा। आगे संन्यासी, पीछे राजा और उसके भी पीछे राजकुमारी। संन्यासी तो जंगल के हरिण की-सी चपलता से भागा; राजा बड़ी मुश्किल से संन्यासी को ध्यान में रखता हुआ उसके पीछे दौड़ने लगा; किंतु राजकुमारी तो थोड़ा दौड़ने के बाद हाँफती-हाँफती जो बैठ गई, सो फिर उठती ही क्यों कर?

शाम पड़ी। एक घनघोर जंगल आ पहुँचा। संन्यासी और राजा दोनों थककर लस्त-पस्त हो चुके थे। देखते-देखते अँधेरा बढ़ गया, और जंगली पशुओं की गर्जनाएँ सुनाई पड़ने लगी। जाड़ों की ठिठुराने वाली हवा तीर की तरह सनसनाने लगी।

संन्यासी और राजा एक बड़ के सहारे बैठे। राजा का पेट पीठ से चिपक चुका था और शरीर सारा मारे ठंड के काँप रहा था। लेकिन कहे कैसे? दाँत कटकटाने लगे, और राजा घुटनों को छाती से लगा, सिकुड़-मुकुड़ बैठ रहा।

"महाराज! ठण्ड तो लगती होगी, किंतु इस जंगल में कोई उपाय नहीं।" संन्यासी ने कहा।

"सो कोई बात नहीं। आखिर यहाँ आग आये कहाँ से?"

बड़ के पेड़ पर एक गिद्ध का घोंसला था; उसमें गिद्ध-गिद्धिन और उनके दो बच्चे रहते थे। गिद्धिन घोंसले में बच्चों को लेकर सोई हुई थी। उसने आवाज़ सुनी, वह चौंकी, जागी और बोली—"जागते हो ?"

"हाँ, क्या कहती हो ?"

"मालूम होता है, नीचे कोई बहेलिया आया है।"

"इस समय बहेलिया कैसा ?"

"देखो, ज़रा सुनो तो सही।"

गिद्ध और गिद्धिन दोनों कान लगाकर सुनने लगे। और जब सुना, तो मालूम पड़ा कि बड़ के नीचे कोई बहेलिया तो है नहीं, किन्तु आफ़त के मारे कोई दो आदमी आ पहुँचे हैं।

"तो अपने इन मेहमानों के लिए कहीं से आग ला दो न ?" गिद्धिन ने कहा।

"मैं भी यही सोच रहा हूँ। किन्तु आजकल ठण्ड के दिन हैं; इसलिए दावानल भी कहाँ लगता है ?"

"तुम बड़ की कलगी पर चढ़कर जरा देखो तो !"

गिद्ध बड़ के शिखर पर पहुँचा। देखा, तो बहुत दूर पर दावानल सुलगता दीखा।

"वहाँ दूरी पर दावानल दिखाई पड़ता है, मैं वहीं जाता हूँ, तुम बच्चों को सँभालना।"

गिद्ध उड़ा, सुलगते दावानल में से एक जलती लकड़ी चोंच में दबा कर वापस आया और उसे बड़ के तने के पास गिरा दिया।

संन्यासी पक्षी की भाषा जानता था; इसलिए सब बातें उसकी समझ में आ गई थीं। फिर भी उसने कहा—"ओहोहो, महाराज !

बड़े लोगों के भाग्य भी बड़े होते हैं ! लीजिये, यह आग आ पहुँची। अब मैं आस-पास से थोड़ी लकड़ी और घास-पात चुन लाता हूँ, और फिर आप तापिये।"

राजा काँपता-थरथराता उस जलती लकड़ी के पास पहुँचा और उसे फूँकने लगा। उधर संन्यासी ने सूखे पत्ते, और टहनियाँ वग़ैरा इकट्ठे किये। थोड़ी देर में वहाँ एक छोटा-सा अलाव जलने लग गया। अब राजा को कुछ होश आया, उसका शरीर गरमाने लगा, संन्यासी पर आने वाला गुस्सा भी कुछ कम हुआ और दोनों पहले से ज्यादा खुलकर बातें करने लगे।

"राजन् ! भूख तो लगी ही होगी ?"

"अबतक तो जाड़े के कारण भूख दबी पड़ी थी, लेकिन अब तो पेट में कुछ-का-कुछ होने लगा है।"

"राजन् ! दिन होता, तो कहीं से भी कुछ-न-कुछ तोड़ गिरा लाते। किन्तु इस रात में तो कोई उपाय नहीं सूझता।"

"क्या इस बड़ के पत्ते नहीं खाये जा सकते ?"

"खाने को तो खा सकते हैं; किन्तु आपने कभी खाये नहीं हैं, इसलिए कहीं 'इदं तृतीयं' न हो जाय !"

"कुछ भी हो, पेट में आग जल रही है, किसी तरह वह ठण्डी तो हो।"

गिद्धिन ने यह बातचीत सुनी।

"फिर सो गये क्या ?"

"नहीं, नहीं; क्यों क्या बात है ?"

"तुमने आग तो लाकर दी, किन्तु ये लोग तो भूखे मालूम होते हैं। उस पर इनमें एक तो राजा है, जिसने कभी सरदी-गरमी और भूख-

प्यास जानी न होगी ! हमारे आँगन मे मेहमान भूखे नही रह सकते।"

"शाम को मांस का टुकड़ा बचा था न ?"

"नही, उसे तो हमारे बच्चे खेलते-झगड़ते खा गये। घोंसले में तो कुछ भी नही है।"

"तो अब मै इस समय कहाँ से लाऊँ।"

"लेकिन मेहमान को भूखा रख कर हम यहाँ इस गरमी में सोते रहे, तो हमारा गृहस्थाश्रम लाजेगा।"

"तो मैं क्या करूँ, तुम्ही कहो ?"

"मुझे एक बात सूझती है। तुम इन दोनों बच्चों को सँभालो, और मै यहाँ से नीचे अलाव में गिरती हूँ। मुझे यों अचानक गिरी देखकर राजा खा लेगा। कदाचित मुझपर दया करके वह मुझे बचाने की कोशिश करे; इसलिए मै अधबीच मे ही अपनी जीभ चोच से कुचल लूँगी। फिर तो उसे खाना ही पड़ेगा।"

गिद्धिन के इस सुझाव का गिद्ध ने स्वागत किया और बोला—"अगर मरना ही है, तो फिर मै ही मरूँ। बच्चे छोटे है। माँ की ममता न मिली, तो तड़पकर मर जायँगे। इसलिए मुझे ही गिरने दो।"

गिद्ध ने गिद्धिन से बिदा ली, अपने छोटे-छोटे बच्चों को चूमा-चाटा। गिद्धिन से कहा, 'इन्हें सँभालना भला' ! और वह नीचे आ गिरा। उसने गिरते-गिरते ही अपनी जीभ काट ली थी; इसलिए अलाव में गिरते ही उसके प्राण निकल गये।

पक्षी को अलाव में गिरता देख राजा चिल्लाया—"अरे-रे-रे ! बचाओ, बचाओ !" गिद्ध के पंख पकड़कर उसे बाहर निकाला, लेकिन इतने में तो वह मर चुका था। सन्यासी सब कुछ जानता था। उसने कहा—

"राजन् ! यह तो मरने वाला था, सो मर गया। अब तुम इसे भूनकर खा जाओ, बड़ों के भाग भी बड़े होते हैं।"

राजा ने गिद्ध के पर वगैरा नोच डाले, उसके मांस को अलाव पर सेंका और गटक गया।

"कहिये, अब ज्वाला कुछ शान्त हुई ?"

"यह तो उलटी बढ़ गई, स्वामिन् ! इतना खाने से भूख और भड़क उठी है।"

गिद्धिन घोंसले में बैठी यह सब सुन रही थी। उसका जी उसके बस में न रहा—"मेरे आँगन में मेहमान भूखा रहे ? जिस रास्ते मेरा गिद्ध गया, उसी रास्ते मै भी जाऊँगी। प्रभो ! ये बच्चे तुम्हारे है। तुम्ही इन्हें सँभालना। आखिर मैं कब तक इनकी रखवाली करती ?"

गिद्धिन ने बच्चो को भलीभाँति सुलाया। उनको चूमा। अपने कुछ आँसुओं से उनका मुँह धोया-भिगोया, और घोंसले का द्वार बन्द करके नीचे गिरी, और गिरते ही मर गई। राजा ने गिद्धिन का मांस भी खाया और रात ज्यों-त्यों बिताई।

सवेरा होते ही संन्यासी ने कहा—"राजन् ! आज हम वापस घर चलेंगे।"

राजा के विस्मय का पार न रहा। वह मन-ही-मन गुनगुनाया—"यात्रा को जाना था, सो क्या हुआ ? अभी तो एक भी तीर्थ नही किया, और कहते है, घर लौटो ? अभी तो सब दिन परेशानी ही में बीते। एक स्वयंवर देखा, तो वहाँ भी मनहूस सूरत बनाकर बैठे; और वहाँ से चोर की तरह भागे, सो यहाँ इस जंगल में सारी रात जाड़े से ठिठुरते भूखे-प्यासे पड़े रहे। यह यात्रा कही जाती हो, तो बात अलग है ! छह महीने पूरे हो रहे हैं, मगर हज़रत मेरे प्रश्न का नाम नहीं लेते।

मुझे हैरान कर रहे हैं। किन्तु एक बार छह महीने पूरे होने दूँ, फिर देख लूँगा। आज कुछ कहना ठीक नहीं।"

संन्यासी और राजा दोनों घर लौटे। राजा आखिरी महीने के आखिरी दिन गिनने में लगा है; इतने में एक दिन शाम को विशुद्धानन्द ने कहा–"राजन् ! अब मैं यहाँ से जाना चाहता हूँ। तुम मुझे बिदा दो।"

"महाराज ! मेरा प्रश्न तो अभी वैसा ही खड़ा है। आपने मुझे उसका उत्तर समझाने का वचन दिया है न ?" राजा ने अधीर होकर पूछा।

"उत्तर तो तुम्हें मिल चुका है।"

"कब ? आपने मुझे उत्तर कब दिया ? मेरा समाधान कब किया ?"

"जब हम यात्रा को गये थे, तभी।"

"मुझे याद नहीं पड़ता। अगर जवाब मिला होता, तो मैं पूछता क्यों ?"

"राजन्, देखिये, आपका सवाल यही है न कि संन्यासी बड़ा या गृहस्थ बड़ा ?"

"जी हाँ।"

"मैं संन्यासी हूँ। स्वयवर में, समूची पृथ्वी पर रथ दौड़ा सकने की क्षमतारखने वाले राजाओं को छोड़कर, राजकुमारी ने मेरे गले में वर-माला डाली थी, सो तुमने स्वयं है देखा। मैं ब्याह करना चाहता, तो राज-कुमारी से ब्याहकर सकता था; मुझे आधा राज मिलता, सिंहासनके सुख लूटने को मिलते, और आपकी तरह मैं भी ऐश्वर्यवान् गिना जाता। किंतु मैं संन्यासी था; मैं संसार के विषयों को घोलकर पी चुका था; इसलिए मेरे मन में कोई वासना न रह गई थी। यही कारण था कि मैं उस वरमाला को फेंककर भाग खड़ा हुआ। यह है संन्यास। संसार के सुख अपने आप गले में आकर पड़ें, तो भी उन्हें अलग हटाकर अपने

ही मार्ग पर दृढ़ रहने में सच्चा संन्यास है। दो पैसों के गुरु से कोई संन्यासी बन पाता, तब तो दुनिया समूची तर गई होती !

"राजन् ! जिस तरह तुमने मेरा संन्यास देखा है, उसी तरह उन पक्षियों के गृहस्थाश्रम का भी तुमने अनुभव किया है। तुम तो नहीं जानते, किन्तु मैं पक्षियों की भाषा जानता हूँ; इसलिए सच्ची बात तुमसे कहता हूँ। जिन गिद्ध-गिद्धिन को तुमने भूनकर खाया था, उन्होंने गृहस्थाश्रम के धर्म का पालन करते हुए तुम्हारे लिए अग्नि सुलभ कर दी, और तुम्हें भूखा जानकर दोनों ने स्वयं मरकर अपना मांस तुम्हें दिया।"

राजा स्तब्ध रह गया—"एँ ! यह आप क्या कहते हैं ?"

"मैं सच कहता हूँ। गृहस्थाश्रम रचने के बाद जब उसके धर्मों का पालन करने की घड़ी आये, तब शरीर या मन को चुराना या छिपाना उचित नहीं होता। अगर गिद्ध-गिद्धिन चाहते, तो आराम से अपने घोंसले में सोये रहते, और सवेरा होने पर अपने काम से लगते; हम भी एक रात में मर न जाते। किन्तु कोई गृहस्थ या गृहिणी इस तरह सो कैसे सकती है ? दूसरों के लिए मरना सीखने के वास्ते तो मनुष्य गृहस्थ बनता है, घर बसाता है। हर किसी स्त्री या पुरुष के एक साथ रहकर बच्चे पैदा करने से गृहस्थाश्रम पूरा नहीं होता; गृहस्थाश्रम तो तभी शोभा पाता है, जब हम अपने शरीर और मन को दूसरों की सेवा में घुला दें, मिटा दें।"

"राजन् ! संन्यास देखना हो, तो यह संन्यास है, और गृहस्थाश्रम देखना हो, तो यह गृहस्थाश्रम है। ये दोनों समान हैं। सच्चे संन्यास और सच्चे गृहस्थाश्रम में कोई किसी से कम-ज्यादा नहीं। जिसका झुकाव संन्यास की ओर हो, वह गेरुए वस्त्र पहने, और जिसका झुकाव गृहस्थाश्रम

की ओर हो, वह सफ़ेद कपड़े पहने। दोनों अपने-अपने धर्म में जाग्रत रहें, तो दोनों ही बड़े हैं, और ग़ाफ़िल रहें, तो कोई बड़ा नही। कहिए, आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिला ?"

राजा तो स्तब्ध होकर बैठा था। वह मानो समाधि से जागा। उसने विशुद्धानन्द के चरणों में अपना माथा टिकाया और बोला— "महाराज ! मेरे मन की भेद-बुद्धि को आज आपने दूर किया; मुझे शास्त्र का मर्म समझाया। मनुष्य जहाँ हो, वही रहकर अपने धर्म का आचरण करे, और दूसरे का धर्म अधिक मनोहर प्रतीत होने पर भी अपना स्थान छोड़कर उस ओर न दौड़े, इस चीज को आज मैं भलीभाँति समझ गया हूँ।"

संन्यासी ने दण्डकमण्डल उठाया और चलने लगे।

"महाराज ! आप अब यही निवास कीजिये, और मुझे सदा के लिए अपने सत्संग का लाभ दीजिये।" राजा ने दीन भाव से विनय की।

"राजन् ! तुम भूलते हो। हमारे साथ ऐसा आग्रह किया ही नही जा सकता। हम रमते राम बने रहे, इसी मे हमारा और संसार का कल्याण है। फिर कभी आपका हमारा कोई ऋृणानुबन्ध हुआ, तो हम फिर एक जगह मिल लेंगे।"

छह महीने पहले जिस दरवाजे से प्रवेश करते समय संन्यासी को सिपाही ने पकडा था, उसी दरवाज़े से राजा आज संन्यासी को बिदा देने आया। दरवाज़े से बाहर निकल कर संन्यासी अपनी राह चला गया और जब तक उसका कलेवर दीखना बन्द न हुआ, राजा उसे दरवाजे की छत पर खड़ा देखता ही रहा, देखा ही किया !

: १० :

'नरो वा कुंजरो वा'

कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत का श्रीगणेश हो रहा है। एक तरफ़ सात अक्षौहिणी सेना और दूसरी तरफ ग्यारह अक्षौहिणी सेना; एक तरफ़ पाँच पाण्डव और दूसरी तरफ सौ कौरव; एक तरफ हाथ मे शस्त्र तक न उठाने की प्रतिज्ञा के साथ आये हुए श्रीकृष्ण और दूसरी तरफ़ उन्ही की समूची सेना; एक ओर पुरुष की आकृतिमात्र-सा शिखण्डी और दूसरी ओर सफेद दाढ़ीवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म; एक ओर द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न और दूसरी ओर उसके पिता के मित्र और धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण।

युद्ध के दसवे दिन भीष्म शरशय्या पर सोये और सेनापति के नाते द्रोणाचार्य का अभिषेक हुआ। द्रोण जन्म से ब्राह्मण थे; धर्नु-विद्या के बड़े समर्थ आचार्य थे, फिर भी उनके स्वभाव मे हिसा नही थी, हाड़ मे खून न था। तिस पर अर्जुन के लिए उनकी प्रीति तो असाधारण थी। इस विचार से कि कोई अर्जुन से सवाई न बन जाय, वह भीलकुमार एकलव्य का अँगूठा उतरवा लाये थे! जब युद्ध शुरू हुआ, तो अर्जुन ने गुरु के चरणों में दो बाण चढ़ाये, और आचार्य ने अर्जुन के सिर पर दो बाण चलाकर उसे आशीर्वाद दिया।

लेकिन वही द्रोण आज बदल गये थे। आज के द्रोण द्रोण न रहे। आज के द्रोण अर्जुन के गुरु न रहे। आज के द्रोण तो पाण्डव सेना के काल बन गये! उनका ब्रह्मतेज, उनकी सफ़ेद दाढ़ी, उनके लोहे-से

कड़े हाथ, उनकी तीक्ष्ण विद्या, और पांचालराज द्रुपद के प्रति उनका जुगों पुराना बैर—इन सबने मिलकर आज पृथ्वी को निष्पाण्डवी करने का निश्चय कर लिया था। द्रोण का प्यारा अर्जुन उनके सामने आया और उन्हीके दिये रहस्य से उनके साथ लड़ने लगा। किन्तु स्वय रहस्य के दृष्टा के सामने रहस्य टिके कैसे? अर्जुन को रथ मे मूर्च्छा आ गई और श्रीकृष्णने रथ लौटा लिया। भीम आगे बढा और उनके सामने आया। भीम का बल तो उन्मत्त बल ठहरा। उसने तो आचार्य के रथ को ही उठा-उठाकर पटकना और तोड़ना शुरू किया; किन्तु युद्ध-कला मे प्रवीण आचार्य ने उसको हराया और खदेड़ दिया। धीर, गम्भीर, युधिष्ठर महाराज सामने लड़ने आये, किन्तु तुरन्त ही लौट पड़े, और हक्के-बक्के-से होकर श्रीकृष्ण को ढूँढने लगे।

इधर द्रोणाचार्य ने तो कहर बरपा करना शुरू किया। मध्यान्ह का समय हुआ; योद्धा पटापट मरने लगे; हाथी-घोड़े जमीन पर लोटने लगे; द्रोण के बाण शत्रुओं को बीधने लगे; धृष्टद्युम्न की सेना बड़े वेग के साथ क्षीण होने लगी; दुर्योधन का उत्साह कोई विलक्षण रूप धारण करने लगा। श्रीकृष्ण सोच मे पड़ गये; अर्जुन चिन्तित हो उठा; भीम कुछ-का-कुछ कर डालने को उतावला हो गया; युधिष्ठिर का मन अपनी विजय के विषय में शंका से भर गया।

श्रीकृष्ण ने कहा—"युधिष्ठिर! मामला गंभीर होता जा रहा है।"

"महाराज! क्या कीजियेगा?"

"आज का का रंग कुछ और है। आज सुबह से द्रोण जिस तरह लड़ रहे हैं, उसी तरह शाम तक लड़ते रहे तो हमारी समूची सेना म एक आदमी भी जीता नहीं बच सकेगा।" श्रीकृष्ण ने कहा।

"द्रोण के बाणों में इतना विष है, सो तो मैंने आज ही जाना।

द्रोण ने यह विद्या तो मुझे भी नहीं सिखाई।" अर्जुन ने बात पूरी की।

भीम ने कहा—"सो तो सब ठीक है। लेकिन अब यह बताओ, कि इनको ख़तम कैसे किया जाय ! बाण का विष तो देखा।"

"कहिये युधिष्ठिर ! आप कुछ कहते क्यों नही ?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

"मुझे तो कुछ सूझता ही नही। पितामह के हटने पर मैं तो यही सोचने लगा था कि अब विजय हमारी ही है; फिर लड़ाई भले जितने दिन चलनी हो, चला करे; लेकिन आज मैं देख रहा हूँ कि लड़ाई आज ही शाम को पूरी हो जायगी और......................"युधिष्ठिर आगे कुछ कह न सके।

"मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है।"

भीम ने पूछा—"तो फिर इसमें से बचने का कोई रास्ता है ?"

"रास्ता सब बातों का होता है, इसका भी हो सकता है।"

"तो आप रास्ता सुझाइए न ! आज तक तो हम आपके दिखाये रास्ते पर ही चले हैं।" युधिष्ठिर ने कहा।

"रास्ता यह है कि कोई ऐसी युक्ति रची जाय, जिससे द्रोण स्वयं अपने शस्त्र छोड़ दे। जब तक इस ब्राह्मण के हाथ में शस्त्र है, तब तक आपको अपने जीने की और जीतने की आशा न रखनी चाहिये।" श्रीकृष्ण बोले।

भीम ने पूछा—"किन्तु वह शस्त्र छोड़ेंगे कैसे ?"

"अगर द्रोण सुन पायें कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया है, तो वे तुरन्त ही अपने शस्त्रों का त्याग कर देंगे। द्रोण का समूचा जीवन अश्वत्थामा पर टिका हुआ है। किसी भी तरह उनके कानों तक

ये शब्द पहुँचने चाहिये कि अश्वत्थामा मारा गया है।" श्रीकृष्ण ने जताया।

"किन्तु अश्वत्थामा के जीते जी उसके मारे जाने की खबर कैसे दी जाय? यह अधर्म कैसे किया जाय?" युधिष्ठिर चौके।

श्रीकृष्ण ने कहा—"आप ठीक कहते हैं। धर्म तो वही है, जो आप कह रहे हैं। किन्तु यहाँ तो विजय की बात है। यदि धर्म की अपेक्षा विजय प्रिय हो, तो इस तरह कीजिये। दूसरा कोई उपाय नही।"

"श्रीकृष्ण! आप जो चाहे, कहें; किन्तु यह उपाय हमारी वीरता को शोभा नही देता।" अर्जुन ने पीठ फेरी।

"अब आप सब अपने-अपने रास्ते जाइये और लड़िये। मै देख लूँगा कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नही।" भीमसेन ने सबको बिदा किया और खुद मालवों के दल की तरफ बढ़ा।

मालव-राज के पास एक हाथी था। उसका नाम अश्वत्थामा था। मालव-राज पाण्डवों की ओर से लड़ रहे थे। भीमसेन ने मालव-राज के उस अश्वत्थामा नामक हाथी को मार डाला और घोष किया—"अश्वत्थामा मारा गया! अश्वत्थामा मारा गया!"

भला, भीम की वह घोषणा ठेठ द्रोणाचार्य के कानों तक पहुँचे बिना कैसे रहती?

द्रोण के कानों ने सुना—"अश्वत्थामा मारा गया।"

"कौन कहता है?" द्रोण ने पूछा।

"भीमसेन कहता है कि आपका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया।"

द्रोण बोले—"भीम झूठ बोलता है। मै द्रोण आज इस तरह शस्त्र छोड़नेवाला नही हूँ। और, मेरा अश्वत्थामा इस तरह मरनेवालों में था ही कब? बच्चू भीम! इस तरह मुझसे शस्त्र डलवाकर

बच जाना चाहते हो क्यो ? अरे, आज साँझ तक मेरी भी मार देख लेना ! मैने दुर्योधन का नमक खाया है। बच्चे धृष्टद्युम्न ! अपनी बहन को रानी बनाना हो, तो तैयार हो जा। आज मेरा अन्तिम दिन है।"

भीम की पुकारो से द्रोणाचार्य अतिशय उत्तेजित हो उठे थे, इस-लिए वह दूने जोर से लड़ने लगे। इतने मे सामने ही द्रुपद के बीस हजार पाचालों को देखकर द्रोण की आँखों मे खून उतर आया। उनके हाथ खुजलाने लगे और उन्होंने ब्रह्मास्त्र चला दिया ! द्रोण का वह ब्रह्मास्त्र ! बेचारे पाचाल उसे समझें भी क्या ? बीसो हजार जहाँ-के-तहाँ स्वाहा हो गये।

किन्तु तुरन्त ही अन्तरिक्ष मे ऋषि आ खड़े हुए--वसिष्ठ, विश्वामित्र जमदग्नि, भरद्वाज, सभी आये।

"द्रोण ! तुम्हारा समय अब पूरा होने आया है। तुम ब्राह्मण हो; युद्ध-जैसे ये क्रूर कर्म ब्राह्मण को शोभा नही देते। तुम यह क्यो भूल जाते हो कि हमारा जन्म जगत् मे शाति की स्थापना के लिए है।"

द्रोण ने ऊपर की ओर देखा। अपने दूषित हाथो से सबको नमन किया, और अपनी इस उग्रता के पीछे छिपी हुई शान्ति का क्षणभर स्मरण किया।

"द्रोण ! तुम तो धनुर्विद्या के आचार्य हो ! ये पाण्डव और कौरव तुम्हारे शिष्य है। तुम उठे और इन बेचारे पांचालों पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर बैठे ! क्या यह तुम्हे शोभा देता है ? जो बेचारे ब्रह्मास्त्र का नाम भी नहीं जानते, उनपर उसका प्रयोग करके तुमने अधर्म युद्ध किया है, और धनुर्विद्या के नियम को तोड़ा है। इसके लिए तुम्हें प्राय-

श्चित्त करना चाहिये। अब भी सोचो; अपने-आपको भूलकर इस तरह लड़ने लगे हो, यह ठीक नहीं।"

ऋषि अन्तर्द्धान हो गये, किन्तु द्रोण के हृदय को भारी आघात पहुँचा। उनके हाथ ढीले पड गये; उनकी पेशानी पर पसीना आ गया, उनके शस्त्रों की धार बोथरी बन गई। बकरियो के झुण्ड पर झपटने वाले बाघ की तरह क्षण भर पहले जो द्रोण पाण्डव सेना पर टूट पड़ते थे, उनको अपने आप पर ग्लानि हो आई, उन्होंने अनुभव किया कि उनके हाथों कोई महान् अकर्म हो गया है! "जब वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ऋषि भी कहते है, तो मुझे इस कार्य से विरत हो जाना चाहिए।" द्रोण फिर सोच मे डूब गये—"आखिर यह सब किसके लिए! जिस अश्वत्थामा के लिए मै अब तक जीता आया हूँ, अगर वह मारा गया है, तो फिर मै राह भी क्यो देखूँ?" द्रोण आकुल-व्याकुल हो गये; उनके गात्र शिथिल होने लगे; उनकी आँखों के सामने हलका-सा अँधेरा छा गया। "किन्तु मेरा अश्वत्थामा यो मर ही नही सकता। तो फिर भीम झूठ क्यों बोला होगा? लड़ाई का मामला है; हो सकता है, कि मेरा पुत्र काम आ गया हो। तो फिर? नही, तो भी भीम का विश्वास तो नही किया जा सकता। पूछना है, तो युधिष्ठिर से ही पूछना चाहिए। जन्म से आज तक वह कभी असत्य नही बोला। यह तो हस्तिनापुर के राज्य की बात है, किन्तु त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी युधिष्ठिर असत्य नही बोलेगा। चलूँ, उसीसे पूछूँ।"

द्रोण सेना के अग्रभाग मे आये और गर्जना की—"हे पृथापुत्र यधिष्ठर! सामने आओ, मुझे तुमसे एक बात पूछनी है।"

दोनों सेनायें कुछ देर के लिए थम गई; हाथी, घोड़े, रथ आदि खड़े रह गये; योद्धा कुतूहल के साथ देखने लगे, और महाराज युधिष्ठिर

का रथ पाण्डव सेना के अग्र भाग मे आया। उनके रथ से सटाकर ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ खड़ा किया।

"गुरुदेव ! क्या आज्ञा है ?" युधिष्ठिर बोले।

"तुम्हारा यह भीमसेन कहता है कि अश्वत्थामा मारा गया। क्या यह सच है ?"

युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की ओर देखा। लम्बी-चौड़ी चर्चा के लिए समय न था। श्रीकृष्ण ने कहा—"महाराज युधिष्ठिर। अगर ये द्रोणाचार्य आज शेष आधे दिन और लड़े, तो समझ लीजिए कि आपकी समूची सेना समाप्त हो जायगी। आप तो इस समय धर्म-अधर्म की तराजू लेकर तौलने बैठे है, किन्तु आपकी मदद के लिए आए हुए इन लाखों योद्धाओं के जीवन का भी विचार कीजियेगा। उनके जीवन आज आपकी तराजू मे तुल रहे हैं, इसलिए घबराइये मत; और बिना झिझके गुरु को जवाब दीजिए।"

भीम तो निरे असत्य का भी समर्थन करने को तैयार था। किन्तु महाराज युधिष्ठिर सोच मे पड़ गये—"जीवन-भर जिस सत्य का सेवन किया, आज उसे इस तरह धूल मे मिला दूँ ? माता कुन्ती यह सब जानेगी, तो मुझे क्या कहेंगी ? किन्तु नही, नही। अकेले अपने सत्य पर दृढ़ रहकर मेरे लिए अपनी सारी सेना का नाश कराना कदापि धर्म न होगा। श्रीकृष्ण ठीक ही कहते है। युधिष्ठिर बोलने को तैयार हो गये।

फिर विचार आया —"और यह भी तो है कि जिस हेतु से यह सारा युद्ध रचा है, उस हेतु को ही छोड़ दिया जाय, तो फिर जीवन मे रह क्या जाता है ? विजय तो मिलनी ही चाहिए। तो क्या विजय के लिए इतना भी न किया जाय ?"

फिर एक विचार आया—"किन्तु क्या इस तरह असत्य से सनी हुई विजय, विजय होगी ?"

"युधिष्ठिर !" द्रोण अधीर होकर बोले। "युधिष्ठिर, जवाब दो। क्या अश्वत्थामा मारा गया है ? अगर मारा गया हो, तो वैसा कह दो; इसमें हिचकिचाने को तनिक भी आवश्यकता नहीं। आज इन अशुभ समाचारों को सुनने के लिए द्रोण तैयार है।"

किन्तु युधिष्ठिर जवाब देने को तैयार न थे।

युधिष्ठिर का हृदय सत्य और विजय के बीच झोंके खाने लगा; उनके शरीर से पसीना छूटने लगा। किन्तु अख़ीर मे वह बोले—**"अश्वत्थामा हतः।"**

दूसरे ही क्षण सवाल उठा—"किन्तु अश्वत्थामा तो जी रहा है न ?" फिर मन्थन शुरू हुआ। "युधिष्ठिर ! ऐसा घोर असत्य ? इतना सफेद झूठ ! तेरा सत्यवादीपन कहां गया ? भला, सच तो कह !" और धर्मराज ने सोचा—"तो, सच ही कह दूँ।" और बोले—**"नरो वा कुंजरो वा।"**

"किन्तु हे जीभ, जरा सँभलकर बोलना भला ! कहीं द्रोण इन शब्दो को सुन न ले !"

पाण्डवों के युधिष्ठिर ने तय किया—"ये शब्द कहे तो जायें, किन्तु इतनी धीमी आवाज में कहे जायँ, कि द्रोण सुन न सके,और वैसे, कहने को यह कहा जा सके कि ठीक ही तो कहा था।"

युधिष्ठिर गुनगुनाये—**"नरो वा कुंजरो वा। नरो वा कुंजरो वा। नरो वा कुंजरो वा।"**

"अपने तो जो सच था, सो कह दिया। फिर गुरु द्रोणाचार्य न

सुनें और शस्त्र त्याग दे, तो इसमे हम क्या करे ?" युधिष्ठिर ने अपने मन को मनाया।

युधिष्ठिर ने सत्य छोड़ा—द्रोण ने शस्त्र छोड़े। युधिष्ठिर के मुख ने कान्ति छोड़ी, जगत् ने कुछ देर के लिए प्रकाश छोड़ा और दिशायें काली पड़ गई।

"युधिष्ठिर ! वाह, क्या कहने हैं, तुम्हारे शब्द-चातुर्य के ? इस शब्द-चातुर्य ने द्रोण को ठगा, किन्तु यह शब्द-चातुर्य समूचे विश्व की नियामक सत्ता को कैसे ठग सकता है ? यह शब्द-चातुर्य तेरे अपने ही हृदय में बैठे हुए देवाधिदेव को किस प्रकार धोखा दे सकता है ?" युधिष्ठिर ने मन-ही-मन कहा।

हस्तिनापुर की गद्दी के लोभ ने युधिष्ठिर को भुलावे मे डाल दिया।

किन्तु कुजर शब्द का विसर्ग अभी ओठों के बाहर भी नही निकला था कि इतने मे तो युधिष्ठिर के रथ के पहिये, जो हमेशा ज़मीन से चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे, एकदम नीचे आ टिके। सौ टंच सोने के थाल में लोहे की छोटी-सी मेख या कील लगी सो लगी !

उसके बाद तो युधिष्ठिर ने अनेक अवसरो पर कड़ी छाती से काम लिया; अनेक बार ही सत्य पर आरूढ़ रहे; अनेक स्वार्थों को ठुकराया; किन्तु इस 'नरो वा कुंजरो वा' ने उनके रथ को जो खीचकर ज़मीन पर टिकाया, सो फिर वह ऊपर उठ ही न पाया।

: ११ :

विदेही जनक

आज जिसे हम बिहार प्रान्त कहते हैं, पहले लोग उसे विदेह कहते थे। विदेह एक हरा-भरा प्रदेश है——मानो सारे भारतवर्ष का उपवन हो——बाड़ी हो ! जब समूचे भारतवर्ष में गरम-गरम हवायें चली हैं, और जीवन का नीर सूखा है, तब विदेह की बाड़ी की शीतल छाया ने सबको विश्राम दिया है। गंगा और शोण के जल विदेह की भूमि को सींचते हुए आगे बढ़ते हैं ; भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के समान महापुरुषों के जीवन-सन्देश इस प्रदेश में प्रसृत हुए हैं; अनाथपिण्डक जैसे दानवीर विदेह में जन्मे हैं ; चन्द्रगुप्त और अशोक के समान चक्रवर्तियों का प्रभुत्व इस प्रदेश पर रहा है ; श्रावस्ती और पाटलीपुत्र-जैसे राजधानी के नगर विदेह की भूमि में खड़े हुए हैं ; आज भी बिहार विद्यापीठ के जैसी राष्ट्रीय संस्था विदेह में ही अपना झण्डा फहरा रही है।

प्राचीन काल में जनक महाराज विदेह में राज्य करते थे। कहा जाता है कि महाराज जनक ज्ञानी थे। उन्होंने परमात्मा को पहचान लिया था। उन्हें इस बात का कोई अभिमान न था कि वे एक बड़े राजा हैं और एक बड़े प्रदेश के स्वामी हैं। वे तो इस तरह राज-काज चलाते थे, मानो स्वयं परमात्मा के नम्र सेवक हों ! इसलिए वे राज की सभी फिकर-चिन्ता भगवान के हवाले करके निश्चिन्त रहते थे। सुबह से लेकर शाम तक सारे राज का प्रबन्ध करते, सेना का निरीक्षण

करते, और महसूल पर ध्यान देते ; शत्रुओं का पता रखते और चोर आदि को दण्ड देते; लोक-कल्याण के उपाय करते, और चारों वर्णों का समुचित संरक्षण करते। और इतना सब करने के बाद भी इस सब को परमात्मा के हवाले करके वे एक क्षण को भी यह न भूलते थे कि स्वयं इन सबसे अलग हैं। इसलिए लोग उनको विदेही जनक कहते थे ।

मिथिला विदेह की राजधानी थी। मिथिला नगरी के बीचोबीच जनक महाराज का महल था, और महल के आस-पास कोई एक हज़ार सन्यासियों की पर्णकुटियाँ थी। मिथिला के सिहासन पर बैठने पर भी जनक महाराज को फ़कीरी का शौक था। महाराज्य का सिहासन छोड़कर साधु-सन्तो की चरण-सेवा करना उन्हे बहुत प्रिय था। अच्छे खासे राजा थे; छत्र-चामर धारण करके और रेशमी वस्त्र पहनकर जब सिंहासन पर बैठते, तो क्षणभर ऐसा प्रतीत होता, मानो स्वयं इन्द्र ने ऐश्वर्यो का उपभोग करने के लिए अवतार धारण किया है ! किन्तु इस राजमहल की खिड़की से, इस सिंहासन पर से, हीरा-मानिक से जड़े इन छत्र-चामरों के पीछे से भी जनक की दृष्टि तो अपनी पर्णकुटी में टँगे हुए उस मृगचर्म और कमण्डल पर, कौपीन और दण्ड पर रहा करती थी। प्रतिदिन प्रभात में राजमहल के उद्यान से कोयल कूकती और पर्णकिुटियो से वेद की ध्वनि उठती; प्रतिदिन रात को जब सारी मिथिला सो जाती, इन पर्णकिुटियों में वेदान्त की चर्चा शुरू होती।

जनक राजा के दरबार मे अष्टावक्र मुनि कथा बाँचते। प्रतिदिन साँझ के समय जनक राजा राज-काज से छुट्टी पाकर सभामण्डप में आते, और क्या संन्यासी, क्या गाँव के श्रद्धालु लोग, और क्या महा-

राज जनक स्वयं, सभी अष्टावक्र का उपदेशामृत ग्रहण करते। यों तो अष्टावक्र आठो अंगों से टेढ़े थे, इसलिए अनजान आदमी को तो उन्हें देखते ही हँसी आ जाती थी, और मन मे विचार आता था कि ऐसे बाँके-टेढ़े आदमी मे रत्ती भर भी अक़्ल होगी या नही। लेकिन परमात्मा का प्रसाद किसे प्राप्त होता है, सो कौन कह सकता है ? अष्टावक्र जन्म से ही ज्ञानी थे ; माता के गर्भ मे ही उन्हे परमात्मा का ज्ञान हो चुका था। जनक महाराज उनके ज्ञान पर, उनकी निष्ठा पर, और उनके उपदेश पर मुग्ध थे। अष्टावक्र मुनि भी महाराज जनक के समान श्रोता को और कहाँ ढूँढ़ने जाते ? अष्टावक्र को यह निश्चय हो चुका था कि सिंहासन पर बैठने पर भी जनक मन से विरागी है, फ़क़ीर हैं। यही कारण था कि जनक-जैसे राजा का गुरु बनने में अष्टावक्र को अनोखा आनन्द आता था। दुनियादारी से बहुत ऊपर उठ जाने पर भी, ऐसे गुरु-शिष्यो के हृदय एक-दूसरे के लिए कितने अनुरक्त हो चुकते है, सो कौन कह सकता है ? '**हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्**'।

एक दिन साँझ की कथा का समय होने आया। सभा-मण्डप सारा सुसज्जित था। आसन सब बिछ गये थे। गुरु अष्टावक्र के लिए ऊँचा आसन बिछा दिया गया था। सारा मण्डप धूप से महक रहा था। आस-पास के सुगन्धी पुष्प चारो तरफ अपनी सुवास फैला रहे थे। श्रोतागण सब एक के बाद एक आ रहे थे।

"कहिये विरजानन्दजी ! कल की कथा कैसी रही ?"

" अजी छोड़ो भी, उस बात को ! हम तो सब-कुछ देख चुके है।"

"कहिये तो, क्या देख चुके है ?"

"इसमें कहना और क्या था ? क्या जिस चीज को मैं समझता हूँ, वही तुम्हारे मन में भी नही है ?"

"लेकिन कुछ कहोगे, तभी पता चलेगा न ?"

"वेद-वेदान्त की ये सब बातें ठीक हैं; और तो सब राम-राम ही है।"

"सचमुच, मुझे भी यही कहना है।"

"इसीलिए शास्त्र में लिखा है कि संन्यास के बिना मोक्ष नही। राजा कितना ही दिखावा क्यों न करे, तो भी वह हमारे-जैसा थोड़े ही कहा जा सकता है ?"

"नही जी, नही। वे बातें तो करेंगे ब्रह्म-परब्रह्म की, विवेक और वैराग्य की, किन्तु गले-गले तक राग में सने होंगे। सवेरे सुवासित पदार्थों से नहाना, तेल मलना, रेशमी वस्त्र पहनना, अनेकानेक जीवों की हिंसा करना, भोग भोगना, रनिवास में जाना, प्रतिदिन राजकोष का निरीक्षण करना, छतर-पलंग पर सोना, सोने-चाँदी के आभूषण धारण करना, और यह सब करते हुए शाम को आँखें मूँदकर एक घण्टा कथा सुनना !"

"आप ठीक ही तो कहते हैं। कहाँ ये भोग विलास, और कहाँ हमारी वेदान्त-कथा ! लेकिन एक बात मेरी भी समझ में नही आ रही है।"

"कौन सी ?"

"कहूँ ? जीभ खुलती तो नही, पर आप कहें, तो कह दूँ।"

"कहो न ? यहाँ कौन सुनता है ?"

"यह सब होते हुए भी गुरु अष्टावक्र के मन में राजा के प्रति इतना पक्षपात क्यों है ?"

"वाह, यह भी कोई प्रश्न है ?"

"नहीं, नही, कहो तो सही।"

"अरे भाई, गुरु अष्टावक्र मनुष्य है या पशु है ? उनके भी मनुष्य का दिल है या पशु का ?"

"यह आप क्या कहते हैं ?"

"मैं ठीक ही कहता हूँ। गुरु अष्टावक्र को जनक के महल में रहना है; राजा जनक जो खिलाये, सो खाना है। राजा जनक जहाँ सुलायें वहाँ सोना है, और जनक राजा के यहाँ कथा बाँचनी है; फिर उन्हें जनक राजा के प्रति पक्षपात न हो, तो क्या तुम्हारे-मेरे प्रति हो ? तुम्हारे पास महल है ? तुम्हारे पास भोग्य पदार्थ है ? तुम्हारे पास पालकियाँ हैं ? तुम्हारे पास चमर डुलाने वाली दासियाँ हैं ? तुम्हारे पास सोने को छतर-पलंग है ? अगर यह सब तुम्हारे पास हो, तो उन्हें तुम्हारे प्रति भी पक्षपात रहने लगे। वे क्या तुम्हारे लँगोटे देखकर पक्षपात करें, या घास-फूस की इस झोंपड़ी के लिए तुम्हें चाहें, या तुम्हारे गाँठोंवाले दण्ड के प्रति पक्षपात रक्खें ?"

"भाई, यह आप क्या कहते हैं ?"

"मैं ठीक ही कहता हूँ। तुम अभी बच्चे हो। हम तो इस चीज को बहुत पहले से जानते हैं। लेकिन क्या करें ?

"तो फिर जहाँ ऐसा पक्षपात होता हो, वहाँ हम रहें क्यों ?"

"तो कहाँ जायें ?"

"सारी दुनिया पड़ी है।"

"सारी दुनिया में कहीं-न-कहीं जाकर रहना तो पड़ेगा ही न, तो फिर यही कौन बुरी जगह है ? नई जगह होगी, सब नया-नया देखना-सुनना पड़ेगा।"

यों बातचीत चल रही थी कि इतने में सभा-मण्डप संन्यासियों से ठसाठस भर गया। नगर के भी थोडे नागरिक आ पहुँचे थे। ठीक समय

हुआ और बाहर द्वार पर एक पालकी आकर रुकी। मुनि अष्टावक्र पालकी से नीचे उतरे और सभा-मंडप मे पधारे। अष्टावक्र को आते देख सभी श्रोतागण खड़े हो गये। सबने उन्हें नमस्कार किया। और जब मुनि अपना दण्ड नीचे रखकर आसन पर बैठ गये, तो दूसरे सब भी बैठे।

कथा का समय हो चुका था। मुनि ने समूचे सभा-मंडप पर एक दृष्टि डाली। सब श्रोता आ चुके थे; केवल महाराज जनक का स्थान खाली था।

"महाराज ! कृपाकर कथा शुरू कीजिये।" नित्यानन्द बोले।

"समय हो चुका है, किन्तु जनक आये नही है।"

"वे तो आ जायँगे। उन्हें राज-काज रहता है; इसलिए समय पर कैसे आ सकते है ?" एक सन्यासी ने कटाक्ष किया।

"जनक के लिए कथा पहली या राज्य पहला ?" एक दूसरे महाशय ने चिढ़कर कहा।

"प्रायः उन्हें देर होती तो नही, किन्तु कोई महत्त्व का काम आ गया होगा, और उसके लिए रुक जाना पड़ा होगा। अब उन्हें आना ही चाहिए।" अष्टावक्र बोले।

"किन्तु आप शुरू कीजिये न ! आखिर राजा गृहस्थ कहलाते हैं। उन्हें कथा की क्या चिन्ता ? उनके लिए तो कथा फ़ुरसत का विनोद है ! सच्ची कथा सुननी हो, तो राज्य छोड़कर संन्यासी न बन जायँ ?"

"महाराज ! आप शुरू कीजिये। जनक राजा आ जायँगे।" एक और संन्यासी ने कहा।

"महाराज ! जो कथा के अधिकारी है, वे तो सब आ गये है।" दूसरा बोला।

"महाराज ! हममें से किसी को देर हो जाती है, तब तो आप राह नहीं देखते।" तीसरे ने कहा।

"महाराज ! जनक राजा के लिए कथा का समय अलग रखिये। इस समय आप हम संन्यासियों की ही कथा रक्खें, तो कैसा हो ?" चौथे ने प्रश्न किया।

इस तरह एक-के-बाद एक सभी कथा शुरू करने का आग्रह करने लगे। इतने में बाहर बंदीजनों का स्वर सुनाई दिया, और महाराज जनक सभा-मण्डप में प्रविष्ट हुए। मुनि के सिंहासन के पास आकर उन्हें साष्टांग नमस्कार किया और जनक आसन पर बैठे।

मंगलाचरण शुरू हुआ। धीर, गम्भीर स्वर से सभी श्रोता मंगलाचरण में सम्मिलित हुए। वेद के मंत्रों से सारा सभा-मंडप गूँज उठा और वातावरण प्रसन्न-गम्भीर बन गया।

इतने में बाहर पुकार उठी—"दौड़ो, दौड़ो ! राजमहल में आग लगी है। दौड़ो, दौड़ो, दौड़ो !"

अष्टावक्र ने कथा शुरू की।

"दौड़ो रे दौड़ो ! राजमहल में आग लगी है। पर्णकुटियाँ अभी आग पकड़ लेंगी !" फिर एक पुकार सुनाई पड़ी।

कथा कुछ आगे चली, किन्तु कथा के शब्द तो बहुत से बहरे कानों पर पड़ रहे थे। संन्यासियों के कानों से तो आग का वेदान्त टकराने लगा था।

"मैंने अपना मृगचर्म बाहर सुखाया है।" एक ने कहा।

"मुझे कल ही तो राजा ने नया कौपीन दिया है।" दूसरे ने कहा।

"मैंने तो अभी-अभी अपनी कुटी के पुराने दरवाजे की मरम्मत करवाई है।" तीसरा बोला।

"चलो, दौड़ो, उधर आग लगी है, और हम सब यहाँ यों बैठे हुए हैं ! सब कुछ जल जायगा, तो रहने का ठौर-ठिकाना भी न रहेगा। फिर कौन दादाजी दिलायेंगे ! कथा तो रोज़ ही होती है।" चौथे ने भड़क कर कहा।

कथा चल रही थी।

"अरे भाई, चलो न ! बहुत सुनी कथा ! ऐसे समय भी कहीं कथा सुनी जाती है ?" पाँचवा अधीर हुआ।

"अरे दौड़ो, दौड़ो ! दक्षिण दिशा की पर्णकुटियों पर चिनगारियाँ गिरने लगी हैं।" पुकार मची।

"सब बैठे क्या हो ? सुनते नहीं ? भले, मुनि जी कथा बाँचते रहें, और जनक राजा सुनते रहें।" नित्यानन्द गरजे, और साथ ही संन्यासियों का सागर उमड़कर द्वार की ओर बढा।

समूचे विशाल मण्डप में एक ही श्रोता बच रहा।

"महाराज ! राजमहल में आग लगी है, तो आप भी पधारिये न !" अष्टावक्र ने कथा बन्द करने का प्रसंग निकाला।

राजा मौन रह गये।

"महाराज ! मैंने क्या कहा ? राजमहल में आग लगी है। आप पधारिये। कथा आज के दिन बन्द रहेगी।" अष्टावक्र ने फिर कहा।

"महाराज ! आप कथा सुनाइये।" जनक बोले।

"लेकिन आपका महल जो जल रहा है ?"

"प्रभो ! आप आगे कथा कहिये। मैं प्रपंची आदमी ठहरा। मैं इस सारे राज्य की उपाधि उठाये हुए हूँ; किन्तु जब आपकी कथा सुनने आता हूँ, तब अपना राज्य परमात्मा के चरणों में छोड़ आता हूँ। प्रभो ! इस समय आपके सम्मुख बैठा हुआ यह जनक विदेह का राजा

नहीं है; इस समय तो वह एक फ़क़ीर है। यह ऐसा समय है, जब मैं अपना सब-कुछ परमात्मा पर छोड़ देता हूँ। अपने इस विचार की कसौटी के लिए परमात्मा जो भी प्रसग पैदा करेगा, सो सब मुझे सह लेना होगा।"

"किन्तु महाराज ! मिथिला जो जल रही है ?" अष्टावक्र ने पूछा।

"किसकी मिथिला ?" जनक ने प्रतिप्रश्न किया।

"जनक की मिथिला।" अष्टावक्र बोले।

"महाराज ! जब आप ही ऐसा कहेंगे, तो मैं कहाँ जाऊँगा ? समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे, तो मनुष्य कहाँ जाय ? मिथिला न किसी की कभी थी, न आगे कभी होगी। आप ही नें मुझे यह सिखाया है न ? आप ही तो मुझे उपदेश करते हैं कि मैं 'मिथिला मेरी', 'मिथिला मेरी' का अभिमान छोड़ दूँ। मिथला तो मेरे नाथ की, परम कृपालु परमात्मा की है।" जनक गद्गद् कण्ठ से बोले।

"किन्तु क्या तुम्हें उसे सँभालना न चाहिए ?"

"प्रभो ! सँभालना तो चाहिए; किन्तु जितना मैं मिथिला को सँभालूँ, उतना ही मुझे अपनी आत्मा को भी सँभालना है। प्रतिदिन सारा समय मिथिला की सँभाल रखता हूँ, किन्तु जब कथा सुनने आता हूँ, तो उसे जगत् के नाथ को सौंप आता हूँ। इसलिए इस समय मुझे उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नही। आप कथा आगे चलाइये।" जनक ने उत्तर दिया।

जब मुनि और जनक के बीच इस प्रकार बातचीत चल रही थी, तभी गये हुए संन्यासी सब एक-एक करके वापस सभा-मण्डप मे आने लगे।

"कहिए नित्यानन्दजी ! आग बुझ गई न ?" अष्टावक्र ने पूछा ।

नित्यानन्द ने सिर नीचे झुका लिया ।

"कहिये विरजानन्दजी ! कितना हिस्सा जल गया ?" अष्टावक्र ने फिर पूछा ।

"महाराज ! जब आग देखी, तब तो बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं, किन्तु जाकर देखा तो घास का एक तिनका भी जला नहीं मिला ।" विरजानन्द ने जवाब दिया ।

"महाराज ! एक शंका हो रही है । आज्ञा हो तो पूछूँ ।" विशुद्धानन्द बोले ।

"क्या शंका है ?"

"आपने माया तो नहीं की थी ?"

"विशुद्धानन्द ! यही बात है । मैं देख रहा था कि आप सबको बहुत दिनों से अपने संन्यास का अभिमान रहने लगा था । आप जनक के महल की अपेक्षा अपनी पर्णकुटी को अधिक पवित्र समझते हैं; उनके वैभव की अपेक्षा अपने त्याग को उच्च मानते हैं; उनके साधनों की अपेक्षा अपनी लँगोटी को श्रेष्ठ समझते हैं; उनकी उपाधि की तुलना में अपने संन्यास को बड़ा मानते हैं ।" अष्टावक्र बोले ।

"जी हाँ, सो तो है ही ।"

"यह सच नहीं है । पर संन्यास को गृहस्थाश्रम से बड़ा मानने के बदले संन्यास की वृत्ति ही गृहस्थ के राग-द्वेष से उच्च है, यह मानना अधिक उपयुक्त होगा । पवित्रता-अपवित्रता महल में या पर्णकुटी में नहीं, किन्तु उस महल या पर्णकुटी में रहनेवाले आदमी के अन्तर में है । यह न समझिये कि वैभव के साधनों में हीनता है, और लँगोटी में उच्चता है । जहाँ रहें, वहाँ लँगोटी वृत्ति रक्खें, तो बस है । आपके पास अपनी लँगोटी

में भी लँगोटी-वृत्ति कहाँ है ? कभी किसी की गलती से आपके कमण्डलु में छेद हो जाय, तो आपको उसका इतना दुःख होता है, जितना जनक राजा को करोड़ रुपये जाने पर भी नही होता। अभी कल ही जब चूहा आपकी लँगोटी काट गया, तो सिर्फ इसके लिए आप चूहों का यज्ञ करने की बात सोचने लगे थे।" अष्टावक्र कहते गये।

"महाराज ! हम आपकी बात को समझ रहे हैं।" नित्यानन्द बोले।

"आज ही जनक राज-सभा से कुछ देर में आये, तो आप लोग कितने उतावले हो गये थे ? आप सोचने लगे कि कथा सुनने के अधिकारी तो आप ही हैं। जनक राजा पर आपने न जाने कितने कटाक्ष किये। यह सब किस बात का सूचक है ?" अष्टावक्र ने पूछा।

"जी ! बिलकुल ठीक है।"

"देखिए, सच्चा अधिकारी कौन है, आप या जनक ? आप सब समस्त संसार का त्याग करके बाहर निकले हैं। लेकिन कहीं लँगोटी जल न जाय, इस डर से भागे ! आपने सारी दुनिया तो छोड़ी, किन्तु लँगोटी न छोड़ सके। जनक राजा सारे विदेह के राजा है, लेकिन कथा के समय वे समूचे विदेह का त्याग कर बैठे, और मिथिला को परमात्मा के हवाले कर दिया। संन्यास आपका सच्चा या जनक का ? कथा के सच्चे अधिकारी आप या जनक ?" अष्टावक्र ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

संन्यासी चुपचाप सुनते रहे।

कथा समाप्त हुई। अष्टावक्र मुनि अपने स्थान को गये; जनक राजा महल में गये; संन्यासी सब अपनी-अपनी पर्णकुटियों की तरफ़ चले।

सभा मण्डप के चबूतरे पर खड़ा एक संन्यासी गुनगुनाया—"क्या अब भी गृहस्थाश्रम में लौटा जा सकता है ?

: १२ :

छोटेभाई बड़ेभाई

गगा के तट पर दो तपोवन थे---एक बड़े भाई का, और एक छोटे भाई का। तपोवन के वृक्ष आकाश के साथ बातें करते; तपोवन का धुआँ बल खाता और गुछलियाँ बनाता हुआ छप्परों की राह ऊपर चढ़ता; प्रति-दिन सबेरे तपोवन की पर्णकुटियाँ वेदध्वनि से गूँज उठती; तपोवन के शान्त-स्वच्छ जलाशय वस्तुमात्र का प्रतिबिम्ब धारण करते; तपोवन के हरिण ऋषि-पत्नियों के हाथ से दूब खाते और खेलते; तपोवन के तपस्वी ईश्वर को पहचानने के लिए देह को घुला डालने-वाली तपस्या करते।

बड़ेभाई और छोटेभाई एक ही माँ की सन्तान थे। सासारिक भोगों और ऐश्वर्यो से ऊब दोनों घर छोड़ निकल पड़े थे; गगा के तट पर आकर उन्होंने विश्राम किया। डेरा डाला। किन्तु वहाँ भी उनके चारों ओर तपोवन खड़े हो गये। दोनों के अपने आश्रम थे। दोनों के अपने शिष्य थे। दोनों अपने-अपने आश्रमों की व्यवस्था करते थे। दोनो कुशल व्यवस्थापक थे। प्रतिदिन प्रातः अपने नित्यकर्म से निबटकर छोटेभाई बड़ेभाई के आश्रम में जाते। बड़े-भाई के चरणों में नमन करते, कुशल पूछते, और "भैया, कोई आज्ञा है ?" इतना पूछकर वापस आ जाते। प्रतिदिन साँझ को बड़ेभाई छोटेभाई के आश्रम में जाते, आश्रम के कुशल-समाचार पूछते, शिष्यों

से छोटेभाई की कुशल पूछते, एकाध ढोंगी-पाखण्डी शिष्य को धमकाते, छोटेभाई से मिलते उन्हें अन्तर के आशीर्वाद देकर लौटते, और मन ही मन प्रसन्न होते हुए चले जाते।

दोनों की तपस्या लोगों से छिपी न थी। गंगा-तट के प्रदेश का राजा उनकी आज्ञा को सिर माथे चढ़ाता और उस स्थान की रक्षा करने में पुण्य अनुभव करता था। आस-पास के लोगों का जी जब दुनियादारी की हवा से अकुलाने लगता, दम घुटने लगता, तो वे तनिक सुख की साँस लेने के लिए इन तपोवनों में आ जाते और बहुत निश्चिन्तता का अनुभव करते। कुछ समय रहकर फिर अपनी दुनिया में लौट जाते, और तपस्वियों का स्मरण किया करते। दोनों ऋषि-बन्धु भी पर्वों के अवसर पर आस-पास घूमने निकल पड़ते, और लोगों को उपदेश देकर प्रजा की संस्कारिता और धार्मिकता को बनाये रखते।

और, इन सबको—ऋषि-बन्धुओं को, प्रजा को और राजा को, तपोवन को, तपश्चर्या को, गाँवो को और राजधानी के नगर को, दुनियादारी को, और राजकाज को यानी सब किसी को—जीवन पहुँचानेवाली गंगामैया तो तपोवन के वृक्षों के चरण धोती, गाँवों के खेतों का पोषण करती, और राजधानी के महलों की सीढ़ियों को पखारती सनातन काल से बहती ही रहती है। तपस्वी आते हे और जाते हैं, लोग पैदा होते हे और मरते हे; राजा गादी पर बैठता हे और चल देता है; तपोवन खिलते हे और मुरझाते-सूखते है; गाँव खण्डहर बनते हे, और खड़े होते हें; राजधानियाँ बनती हें और बिगड़ती हें; तपश्चर्या, संसार-व्यवहार और राज-प्रबन्ध, सबके रूप बदलते हें;

किन्तु नहीं बदलता एक गंगामैया का अखण्ड जीवन-प्रवाह। गंगा तो सदा गंगा ही है; हिमालय से उतरती, शंकर की जटा में विलीन होती और बाहर निकलती, समूचे देश को उपजाऊ बनाती, और अन्ततः समुद्र में विलीन हो जाती, गंगा तो वही पतित पावनी गंगा है।

एक दिन सबेरे छोटेभाई बड़ेभाई के आश्रम मे आये। गर्मियों के दिन थे। आश्रम की अमराइयो में कोयल कूक रही थी। आम के पेड़ फलों के भार से झुके जा रहे थे; पास ही कुछ दूर पर नदी की रेत मे ऋषिकुमार खेल रहे थे। जब छोटेभाई अमराई की तरफ आगे बढ़े, तो कोयल ने उनका स्वागत किया—'कुहू-कुहू' की मीठी आवाज़ गूँज उठी। एक बड़ा रसीला आम का पेड़ था। लम्बे-लम्बे और मुलायम उसके पत्ते थे, और उस पर बड़े-बडे आम लटक रहे थे। छोटेभाई की दृष्टि एक गदराये हुए आम पर पडी और वहीं चिपक गई। बहुत सुन्दर गदराया हुआ आम था, बिलकुल पकने को था; आज डण्ठल से छूटकर गिरे या कल गिरे, ऐसी हालत थी। छोटेभाई की दृष्टि टिकी सो टिकी; किन्तु जिस तरह चतुर सारथी घोड़ों की लगाम खींच लेता है, छोटेभाई ने उसी तरह अपनी आँखें वहाँ से हटाली, और आगे बढ़कर बड़ेभाई के स्थान पर पहुँचे।

बड़ेभाई भिनसारे ही कही बाहर निकल गये थे; साँझ तक लौटनेवाले थे। छोटेभाई कुछ देर ठहर कर तुरन्त ही उसी अमराई की राह लौट पड़े।

लेकिन वह गदराया हुआ आम! कोयल फिर कुहक उठी। उन लम्बे-लम्बे पत्तों पर दृष्टि फिर जा पहुँची। ओह, उस

गदराये आम के छिलके पर रगों की कैसी अद्भुत छटा थी !—"क्या यहाँ कोई है ?" दूर पर रेत मे ऋषिकुमार खेल रहे थे, और उनकी आवाज़-भर सुनाई पड़ रही थी। छोटेभाई आम के पास गये। हाथ बढ़ाया। ऐसा लगा, मानो वह खुद झुककर समीप आ रहा हो। "किन्तु 'नही, नहीं; ऐसे कितने ही आम क्या मेरे तपोवन मे नही है ?" छोटेभाई दो कदम आगे बढ़े; फिर एक बार मुड़कर आम पर दृष्टि डाली; आम के हरे-पीले रंगो ने छोटेभाई की आंखो पर जादू-सा कर दिया—एक मोहिनी डाल दी !—छोटेभाई फिर दो क़दम लौट पड़े, हाथ बढ़ाया, और अभी आम को छू भी नही पाये थे कि इतने में पता नही कैसे, क्यो, वह उनके हाथ मे आ रहा ! "कोई है ?" कोई भी न था। कोयल तक उड़ चुकी थी। केवल सामनेवाले नीम पर से एक कौवा कॉव-कॉव करता हुआ उड़ गया।

× × ×

छोटेभाई आश्रम के बिछौने पर लोट रहे हैं। आज उनका चित्त स्वस्थ नही है। बड़ेभाई के आम के रस ने उनके जीवन मे विष घोल दिया है; और छोटेभाई ने नौलिक्रिया द्वारा उसके सारे रस की क़य, कर डाली है, तो भी उसका विष अभी पूरी तरह उतरा नहीं। दो-पहर ढली, शाम हुई, रात भी आ पहुँची। सारी रात बिछौने मे करवट बदलते रहे, लोटते रहे। छोटेभाई की योग-निद्रा आज उनकी न रही; छोटेभाई की जपमाला आज उनके हाथ से खिसक गई; जिस आकाश और तारो के दर्शन से छोटेभाई की शान्ति बढ़ जाया करती थी, वही आकाश और तारे आज उन्हें दुःख दे रहे है। कब सवेरा हो, कब दिन उगे, मन में इसीकी धुन लगी है।

दूसरे दिन का सूरज उगा। बड़ेभाई तो रात देर से आश्रम में

पहुँचे थे। छोटेभाई रोज़ के समय पर बड़ेभाई के आश्रम की ओर चले। अमराईवाले हमेशा के मार्ग को छोड़कर आज छोटेभाई के पैरों ने दूसरी ही राह ली। आश्रम के पिछले द्वार से छोटेभाई ने बड़ेभाई के आश्रम मे प्रवेश किया; उस द्वार के मार्ग में काटे डाले गये थे, इसलिए उधर से आने में उनके शरीर पर थोड़ी खरोंचें भी आईं।

"कहो भाई! आये? कल तो मुझे अचानक जाना पड़ा और मैं तुम्हें खबर तक न भेज सका। तुमको व्यर्थ का चक्कर पड़ा होगा?" बड़ेभाई ने कहा।

छोटेभाई ने कोई जवाब नहीं दिया। वह सिर नीचा किये ज़मीन कुरेदते रहे।

"क्यों भाई! आज कुछ बोलते क्यों नहीं हो? शरीर तो स्वस्थ है न?"

छोटे भाई की आँखों से गंगा-यमुना का प्रवाह बह चला।

"भाई, यह क्या बात है? तुम रोते क्यों हो? क्या किसी बात का बुरा लगा है?" बड़ेभाई ने अधीर भाव से पूछा।

छोटेभाई से रहा न गया, हृदय भर आया, और वह फूट-फूट कर रोने लगे।

"भाई! मुझसे कहो तो सही बात क्या है?"

"बड़े भैया! मुझे क्षमा करो! मैंने आपकी चोरी की है।"

"चोरी? यह तुम क्या कहते हो? हमने चुराने-जैसी कोई चीज़ ही अपने पास कहाँ रक्खी है कि चोरी हो! दुनिया की चोरी से त्रस्त होकर ही तो हमने अपरिग्रह का सिद्धान्त स्वीकार किया है। चोरी किस चीज़ की? बात क्या है?"

"भैया! चोरी का आधार जितना वस्तु पर है, उससे भी अधिक मन की वृत्ति पर है। मैंने अपरिग्रह के विचार से संसार छोड़कर

तपोवन में रहना तो शुरू किया; किन्तु जो परिग्रह मेरे मन में घुसा हुआ है, वह कहाँ जाय ? भैया ! मेरी अपेक्षा तो नामी चोर अच्छा; क्योंकि दुनिया जानती है, कि वह चोर है।"

"लेकिन हुआ क्या, सो तो कहो ?"

"मैंने आपका एक आम चुराकर खाया है।"

"तुमने मेरा आम चुराया है ? तो इसमें हुआ क्या ? मेरा एक आम तो ठीक, किन्तु क्या यह समूचा आश्रम ही तुम्हारा नहीं है ?"

"सच है कि आपका समूचा आश्रम मेरा है। यह भी सच है कि आपके आम मेरे आम हैं। किन्तु जिस खुले दिल से आप यह बात कहते हैं, उतने ही खुले दिल से मैं इस आश्रम को और इन आमों को स्वीकार करूँ, तब न ? मेरे मन में चोरी जो भरी है, उसका क्या ?"

"बात क्या हुई है, सो तो कहो ?"

"कल मैं आपकी अमराई के मार्ग से आ रहा था कि एक गदराये आम पर मेरा मन चला गया।"

"तो किसी से कह दिया होता, वह तोड़ देता।"

"तब तो अच्छा ही होता न ? लेकिन मैंने वैसा नहीं किया; उलटे, मैंने तो चुपचाप आम चुराया और इस तरह गुपचुप उसे खा गया कि किसीको पता भी न चले !"

"भैया ! तुमसे यह दोष हो गया, तो भले हो गया। इसके लिए तुम इतने खिन्न क्यों दीखते हो ? अस्तु। फिर तो कोई बात नहीं हुई न ? सब कुशल तो है ?"

"कुशल क्या होता ? जब तक वह आम खाया, मुझे कोई होश ही नहीं था। किन्तु अपने आश्रम में लौटते ही मुझे होश हुआ। खाये हुए आम को मैंने नौलिकर्म से निकाल डाला, लेकिन मेरे मन की वेदना तो

अब भी बनी हुई है। मुझे तो सपने में भी खयाल नही था कि बर्षो का सयम योग पाकर यो बात की बात में धुल जाता होगा। भैया ! में तो यही समझ रहा था कि अस्तेय की मेरी उपासना अब सिद्ध हो चुकी है, और वस्तुमात्र के प्रति मेरा मोह नष्ट हो चुका है। कल ही मुझे पता चला कि मेरे हृदय में ये इतनी लालसाये छिपी पड़ी है, और मौका पाकर प्रकट होने को तैयार है।"

"भाई ! तुम ठीक कहते हो। लेकिन जो हुआ, सो हुआ; अब उसका खेद न करो। अधिक जाग्रत बनो; अपने हृदय को अधिक तत्परता से टटोलते और जाँचते रहो. और परमात्मा से दया की प्रार्थना करते रहो।" बड़ेभाई ने कहा।

"भैया ! आप जो कहते है, सो उचित ही है। किन्तु मुझे अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करना है।"

"इसमें ऐसा कौन बड़ा पाप हो गया है ?"

"बात ऐसी नही है, भैया ! जो मानोवृत्ति दुनिया के नामी चोरो में पाई जाती है, वही मनोवृत्ति मुझ मे भी है। चोर तो बेचारा चोर के नाम से मशहूर है, इसलिए लोग उसे पहचानते है; किन्तु मै तो यहाँ यह तपोवन लेकर बैठा हूँ, इसलिए लोग मुझे साधु समझते है। फिर भी मै अपने दिल से तो चोर ही हूँ। इसका अन्त करने के लिए मुझे राजा से दण्ड की याचना करनी चाहिए।"

"भाई ! तुम्हारी बात यथार्थ है; अतः मै इससे इनकार भी कैसे करूँ ? चलो, हम राजा के पास चलें और न्याय की याचना करें।"

दोनों भाई राजधानी की ओर चल पड़े। दोनों के उपवास था; दोनों के शरीर थके हुए थे; दोनों के मुख पर ग्लानि थी; दोनों आज अपने अन्तस्तल को टटोलने में लगे थे।

"अन्तस्तल को, हृदय को, वर्षों तक धोते रहने पर भी, कभी-कभी यह दुर्गन्ध उसमें कहाँ से आ जाती होगी ?"

दोनों राजधानी में पहुँचे और कहीं किसी के घर ठहरे बिना सीधे राज-दरबार में चले गये। समाचार पाते ही राजा राज-भवन की सीढ़ियों पर उनके स्वागत के लिए आ खड़े हुए। उन्होंने दोनों ऋषि-बन्धुओं को प्रणाम किया और अत्यन्त विनीत भाव से उनको अपने सभागृह में ले गये।

"महात्माओ! आज आपने मेरा आँगन पवित्र करके मुझे धन्य किया है। कहिए, गुरुदेव! क्या आज्ञा है ?" राजा ने चर्चा चलाई।

छोटे भाई की दृष्टि तो ज़मीन पर ही गड़ी थी। बड़े भाई ने राजा की ओर देखा।

"महात्मन्! कहिए, क्या आज्ञा है ? आपके तपोवन तो कुशल है ? आपके खेतों में चोरी आदि तो नहीं होती ? मेरे सैनिक और सिपाही आपको सताते तो नहीं ? आपके शिष्यों का अभ्यास तो भली-भाँति चल रहा है न ? महात्मन्! मेरे अधिकारी आपको कोई पीड़ा तो नहीं पहुँचाते ? कहिए, आप क्यों पधारे हैं ?"

"भैया, कहो न! हम क्यों आये हैं, सो तुम्हीं कहो।"

"आप ही कहिये, बड़े भैया! मेरी तो जीभ ही नहीं खुलती।"

"इसमें जीभ न खुलने की क्या बात है ? सुनिये राजन्! मेरे इन भाई ने मेरी अमराई की एक साग—एक गदराया आम—खा ली है, आप इन्हें इसका दण्ड दीजिए।" बड़े भाई ने कहा।

"महात्मन्! आम की चोरी क्या ? और चोरी पर ही राज चलाने-वाला मैं आपको दण्ड किस मुँह दूँ ?" राजा ने कहा।

"राजन्!" छोटे भाई ने सिर ऊँचा उठाते हुए कहा—"बात ऐसी

नहीं है। यों तो बड़े भैया का समूचा आश्रम मेरा है इसलिए मैं उनका एक आम तो क्या, सारे आम खा सकता हूँ। किन्तु मैंने अपरिग्रह का व्रत लिया है, और बड़े भैया का आम गुपचुप खाया है, इसलिए मैं चोर हूँ।"

"तो फिर आपके बड़े भाई ही आपको दण्ड दें।" राजा ने कहा।

"ठीक है। दण्ड देने का उन्हें अधिकार है; किन्तु आज मेरे प्रति अपने स्नेह के कारण वे दण्ड देने को तैयार नहीं।"

"जिसका आम खाया, वही जब दण्ड देने को तैयार नहीं, है तो फिर आप व्यर्थ ही यह हठ क्यों करते हैं?"

"हठ इसलिए कर रहा हूँ कि मैंने जो व्रत लिया है वह दण्ड से बचने के लिए नहीं, बल्कि जीवन का कल्याण करने के लिए है। मेरी इस चोर-वृत्ति के नष्ट न होने से उनकी हानि हो, चाहे न हो, किन्तु मेरी तो बहुत बड़ी हानि है। इसीलिए मैं दण्ड की याचना कर रहा हूँ। यदि बड़ेभाई मुझे दण्ड न दें, तो मेरी दुर्दशा का पार न रहे, इसी कारण मैं आपसे दण्ड की याचना करने आया हूँ।"

"महात्मन्! आप तो मेरे गुरु हैं। आप-जैसों से मेरे समान पामर मनुष्य जीवन की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। जब आप इस क्षुद्र चोरी को चोरी कहते हैं, तब तो मैं इससे कहीं बड़ी चोरियाँ प्रतिदिन करता होऊँगा। कृपा कर आप लौट जाइए, और मुझे इस संकट से बचा लीजिये।" राजा ने विनती की।

"राजन! आप भूल करते हैं। आपके हाथ में राज-दण्ड है। आपके चोर, चोर हैं, और अपराध करते हैं किन्तु हम तो ऋषि कहलाते हैं। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि हमारे ऋषि जीवन में यह छोटी-सी चोरी भी बहुत भयंकर वस्तु है। इसलिए राजन्! मेरे समान लोगों को दण्ड देना आपका धर्म है। यदि भावनावश हो आ-

आप आज दण्ड न देंगे, तो आपके राज्य पर ईश्वर की अकृपा प्रकटेगी।" कहते-कहते छोटे भाई की आँखों में खून की लाली उतर आई।

राजा मानो नींद से जाग पड़ा। वह एकदम खड़ा हो गया और सिंहासन पर बैठ कर बोला—"कोई है ?"

"जी! आज्ञा ?"

"इन छोटे भाई को कठघरे में खड़ा करो।"

छोटे भाई, कठघरे में जा खड़े हुए; बड़े भाई, जहाँ बैठे थे वहीं, दीन भाव से बैठे रहे।

"कहिए महाराज! आपने अपने बड़े भाई का आम चुरा कर खाया है ?"

"जी हाँ।"

"आप अपना अपराध स्वीकार करते हैं ?"

"जी हाँ।"

"आपको अपने बचाव में कुछ कहना है ?"

"कुछ भी नहीं।"

"सिपाही! लुहार को बुलाओ।"

कुछ ही देर में लुहार आ पहुँचा। उसके हाथ में छेनी और हथौड़ा था।

"इन छोटे भाई के दोनों हाथ पहुँचे के पास से काट डालो।"

कठघरे के मजबूत पटिये पर छोटे भाई ने अपने दोनों हाथ फैला दिए, और मानो लकड़ी की छिलपट उतार रहा हो इस तरह लुहार ने उनके हाथों से पहुँचों को अलग कर दिया। छोटे भाई के कटे हाथों से और बड़े भाई की आँखों से लहू की धारा बह चली!

जब वैद्य की मदद से दोनों हाथों पर पटी बँधी, तो बड़ी देर में लहू बन्द हुआ।

राजा सिंहासन से नीचे उतरा और बोला—"महात्मन्! आप मेरे गुरु हैं; जब तक हाथ का यह घाव भर न जाय, आप यहीं रहिये।"

"राजन्! आपने मुझ पर बहुत उपकार किया है। आपने मुझे जो दण्ड दिया है, उससे मैं पवित्र हुआ हूँ। आपको मेरे बहुत-बहुत आशीर्वाद हैं। मैं यहां अधिक रहना नहीं चाहता मेरा दिल इसके लिए तैयार नहीं हो रहा। हम तो जंगली पशु कहे जाते हैं; इसलिए हमें तो वन में ही जल्दी आराम होगा।"

सम्मान पूर्वक राजा से बिदा होकर छोटे भाई और बड़े भाई दोनों अपने अपने आश्रम को पहुँचे।

× × ×

भादों का महीना शुरू हुआ। गंगा मैया दोनों किनारों से सट कर छलाछल बह रही थी। वर्षा का पानी निथर कर निर्मल हो गया था।

अमावस का दिन हमेशा पिता के श्राद्ध का दिन होता। प्रति वर्ष बड़े भाई ही श्राद्ध-कर्म करते; किन्तु उस दिन सुबह बड़े भाई ने छोटे भाई को संदेशा भेजा—"भैया! आज श्राद्ध तुम्हें करना है।" पर छोटे भाई के हाथ ही कहाँ थे, जो वे श्राद्ध करते? हाथ की जगह तो दो ठूँठ लटकते थे! ठूँठे हाथों पिता को अर्घ्य कैसे दिया जा सकेगा? इन ठूँठोंकी अंजलि कैसे बनेगी?

मध्यान्ह का समय हुआ। छोटे भाई पिता को अर्घ्य प्रदान करने गंगा-तट पहुँचे। गंगा में स्नान किया, पिता का स्मरण करके दोनों ठूँठों को समीप लाये, और मानसिक अर्घ्य-विधि को व्यक्त करने के लिए उन्हें पानी में हिलाने लगे; आँखें तो पिता का स्मरण करती हुई

अन्तरतर में पैठ गई थी, और हाथ के ठूँठ जल अर्पण कर रहे थे, सिर पर सविता देव तप रहे थे।

किन्तु जिस तरह वसन्त का आरम्भ होने पर वृक्षों में नई कोंपलें फूटती हैं, उसी तरह छोटेभाई के हाथ के पहुँचे फूटे, पहुँचों से हथेली फूटी और हथेलियों से अँगुलियाँ और, अँगुलियां से नख !

बड़े भाई बहुत देर से किनारे आकर खड़े हैं। पितृ-स्मरण समाप्त होने पर छोटे भाई ने आंखे खोली तो देखते क्या हैं कि हाथ जैसे थे फिर वैसे ही हो गये हैं ! "अरे यह क्या ! चलूँ, बड़े भैया को खबर दूँ।"

नदी से बाहर निकलकर देखते क्या है, कि बड़े भाई इस श्राद्ध के साक्षी के रूप में वहीं खड़े हैं ! बड़े भाई को देखकर हर्ष-विह्वल छोटे भाई दौड़ पड़े और उनके पैर पकड़ लिये। बड़े भाई की आंखें सजल हो आई।

'भैया मेरे ! आज मुझे नीद आयेगी। जिस दिन तुम्हारे हाथ लुहार से कटवाये, तब से आज तक मेरी आंख झँपी नहीं है। ईश्वर तुम्हें सुखी रक्खे !"

"बड़े भैया ! मुझे अपने कर्म का फल मिला। आप करते भी क्या ?"

"भैया ! तुम अभी समझते नही हो। कर्म की यह सब मीमांसा तो मै भी जानता हूँ। किन्तु जब लुहार ने छेनी पर हथौड़ा चलाया था, तब मेरे अन्तरतर में कैसा अँधेरा छा गया था, सो कौन जान सकता है ? भाई ! जाओ; अब उस बात को याद न करो।"

छोटे भाई बड़े भाई दोनों अपने-अपने आश्रमों को गये।

महाभारतकर ने इन दो भाइयों को शंख और लिखित नाम दिये हैं। किन्तु हम उन्हें छोटे भाई और बड़े भाई के ही नाम से पहचानें तो ?

: १३ :

यक्ष-युधिष्ठिर

एक बार अपने वनवास के दिनों में पाँचों पाण्डव एक निर्जन अरण्य में जा पहुँचे। आगे भीम और सहदेव, बीच में महाराज युधिष्ठिर और द्रौपदी, और पीछे अर्जुन और नकुल। सुबह से चले थे। दोपहर हो गई। चलते-चलते थक गये : लस्त-पस्त हो गये। धूप कहे, मैं आज ही तर लूँगी !

"अब तो मुझसे एक डग भी आगे नहीं रक्खा जाता। मेरा कण्ठ सूख रहा है। मुझे पानी दो।" कहती हुई द्रौपदी बड़ के झाड़ के नीचे बैठ गई।"

"भैया भीम ! भाई अर्जुन ! अब हम यहीं ठहर जायँ, और पानी की तलाश करें। मुझे भी जोर को प्यास लगी है।" युधिष्ठिर ने कहा।

"बड़े भैया ! इधर आस-पास तो कहीं पानी दीखता नहीं; इस एक बड़ को छोड़कर इतने में दूसरा कोई पेड़ भी यहां नहीं; नजदीक में कहीं कोई हरियाली भी नजर नहीं आती; इससे तो ऐसा मालूम होता है कि पानी बहुत दूर होगा।" अर्जुन बोला।

"दूर हो तो दूर, और पास हो तो पास; मेरी जीभ तालू से चिपकने लगी है। पानी, पानी !" द्रौपदी विह्वल होकर बोली।

"सहदेव ! यह तुम्हारा काम है। इस बड़ पर चढ़ो और देखो, कहीं पानी दिखाई पड़ता है ? चलो, जल्दी करो।" बड़े भैया ने आज्ञा दी।

सहदेव बड़ पर चढ़ा और दूर पर हरे-भरे पेड़ देख कर बोल उठा—"हाँ, वहाँ पानी है। लाओ, मैं ले आऊँ।"

"भैया ! जरा जल्दी लौटना भला।" नकुल से न रह गया।

सहदेव चला। चलते-चलते एक बड़ा सरोवर मिला। सरोवर के किनारे-किनारे घने, घटादार वृक्षों की पांत खड़ी थी; कलरव करते और डालियों पर बैठकर झूलते हुए पक्षियों का पार न था अपने उदर में समूचे आकाश को प्रतिबिम्बित करने वाला सरोवर जल से छलाछल भरा था और बतकों के दल के दल सरोवर के जल पर बड़े उल्लास के साथ तैर रहे थे।

सहदेव सरोवर की पाल पर चढ़ कर पानी के पास पहुँचा, और ज्योंही पानी में हाथ डालने को हुआ, कही से एक आवाज़ आई—"ठहरो, ठहरो !"

"अरे, यह कौन बोल रहा है ? यहाँ आस-पास तो कोई मनुष्य दिखाई नही पड़ता !"

कुछ देर बाद सहदेव ने फिर हाथ बढ़ाये और फिर आवाज़ आई—"ठहरो, ठहरो !"

सहदेव ने चारों तरफ़ निगाह डाली। फिर सोचा; यह तो असल में मेरा भ्रम ही है। यहां दूसरा कोई है नही। मन यों ही भ्रमित हो गया है। चलूँ जल्दी पानी पीकर भाइयों के लिए पानी ले जाऊँ।

फिर हाथ बढ़ाये और फिर सुना—"ठहरो ठहरो ! मैं इस सरोवर का स्वामी हूँ। इसके लिए मैंने यह नियम बनाया है कि जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दे, वही पानी पिये !"

"स्वामी ? स्वामी ? तू इस सरोवर का स्वामी ? तू जानता नहीं कि आज तो यह माद्री का पुत्र पानी पीने आया है। आज उसके पास प्रश्नोत्तर के लिए समय नहीं है; उसे तो आज पानी की जरूरत है।"

सहदेव ने हाथ बढ़ाकर पानी-पीना शुरू किया, और पिया न पिया, इतने में तो वह सरोवर के किनारे ढेर होकर पड़ गया !

इधर युधिष्ठिर की चिन्ता बढ़ी—"बहुत देर हो गई। सहदेव अभी तक पानी लेकर क्यों नहीं आया ? भाई नकुल ? ज़रा जाकर देखो तो ! देखना, कहीं तुम भी वहीं न रह जाना।"

नकुल चला और सरोवर के किनारे आ पहुँचा। किनारे पर सहदेव की देह ढली पडी थी। देखकर नकुल चिन्तित हो उठा। लेकिन चिन्ता के लिए समय ही कहां था, वह खुद भी बहुत ही प्यासा था, इसलिए सीधा पानी में पैठा और ज्योंही पीने को हुआ, किसी ने टोका—"ठहरो, ठहरो !"

"यह कौन बोल रहा है ?"

"भाई, ठहरो ! मेरे प्रश्न का उत्तर देने के बाद ही इस सरोवर का पानी पिया जाता है।"

इतने में नकुल ने पानी पीना शुरू कर दिया, और पीते ही वह ढुलक पड़ा।

महाराज युधिष्ठिर की बेचैनी बढ़ी—"नकुल भी नहीं आया ? अर्जुन ! अब तो तुम जाओ। तुम्हारे बिना यह काम न होगा।"

अर्जुन रवाना हुआ; सरोवर के तट पर पहुँचा; पानी के पास गया, और ज्योंही पानी लेने को हुआ, किसी ने कहा—"ठहरो, ठहरो !"

"कौन है ?" चारों ओर नज़र दौड़ाई, तो देखा, थोड़ी दूर पर नकुल और सहदेव ढले पड़े हैं।

फिर पानी पीने को हाथ बढ़ाया और फिर सुना—"ठहरो, ठहरो !"

अर्जुन से न रहा गया—"बड़ा आया है, ठहरो, ठहरो, कहने-वाला ! ज़रा सामने तो आ; तेरी सूरत तो देखूँ ? फिर तुझे दिखाऊँ

कि तू किसे ठहरो, ठहरो, कह सकता है ! देखे है, मेरे ये बाण ? मुझे पानी पी लेने दे। फिर मै अपने इन भाइयों के बारे में तुझसे निपटूँगा।"

अर्जुन पानी पीने ही वाला था कि इतने में फिर आवाज आई-- "ठहरो, ठहरो !"

अर्जुन को क्रोध चढ़ा और वह अपने शब्द-भेदी बाण चारों तरफ बरसाने लगा। लेकिन इस बीच कोई ठहाका मार कर हँसा और बोला- "अरे अर्जुन ! व्यर्थ श्रम क्यों करता है ? तेरे बाण मुझे तो छू भी नही सकते। मेरे प्रश्नों का उत्तर दे, और फिर पानी पी। नही तो जैसे तेरे ये भाई यहाँ सोये हैं, उसी तरह तुझे भी सोना पड़ेगा।"

किन्तु अर्जुन क्यों किसी की परवाह करने लगा ? वह तो द्रोणाचार्य का पट्ट शिष्य ठहरा ! अर्जुन ने अंजलिमें पानी लिया और कुल्ला किया चाहता था कि वही ढुलक पड़ा।

अन्त में भीम आया। उसकी भी वही दशा हुई।

"द्रौपदी ! चारों मे से एक भी पानी लेकर नहीं लौटा, इससे मैं तो बहुत ही चिन्तित हो उठा हूँ। अब मुझे जाने दो। तुम जरा राह देखना। मैं पानी लेकर सबके साथ अभी आता हूँ।"

धर्मराज युधिष्ठिर पानी लेने आये। उनके मन में तरह-तरह के तर्क-वितर्क चल रहे थे। उनकी बाई आँख फड़कने लगी। उनके पैर ढीले पड़ने लगे, उनकी छाती धड़कने लगी। सरोवर के किनारे आकर देखते क्या हैं कि चारों भाई चित पड़े है। हृदय टूक-टूक हो उठा, छाती फटने लगी--"हाय ! यह मै क्या देख रहा हूँ ?"

कुछ देर बाद जब वे थोड़े स्वस्थ हुए, तो अपने चारों भाइयों की इस दशा के कारण का विचार करने लगे, किन्तु कोई कारण समझ में

नहीं आया। तर्क ही तर्क में युधिष्ठिर पानी तक पहुँच गये, और ज्योंही पीने को हुए, फिर आकाशवाणी सुनाई पड़ा—"हे धर्मराज युधिष्ठिर! मैंने तुम्हारे इन भाइयों को मार डाला है। मैं इस सरोवर का यक्ष हूँ। मैंने तुम्हारे भाइयों से साफ साफ कह दिया था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ही वे पानी पी सकते हैं। लेकिन उन्होंने मेरी नहीं सुनी, इसीसे उनकी यह दशा हुई है। अगर तुम भी मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना पानी पियोगे, तो समझ लो कि तुम्हारे भी यही हाल होंगे।"

युधिष्ठिर स्थिर हुए और शान्ति के साथ बोले—"हे यक्ष ! मैं सत्य और अस्तेय का उपासक हूँ। किसी पराई चीज को उसके स्वामी की स्पष्ट अनुमति के बिना लेना एक तरह की चोरी है। अगर मैं ऐसी चोरी करूँ, तो मुझे दण्ड देने का तुम्हे अधिकार है।"

यक्ष ने कहा—"तो तुम मेरे प्रश्नो के उत्तर दो।"

"युधिष्ठिर बोले—मै नही जानता कि मै तुम्हारे प्रश्नों के यथार्थ उत्तर दे सकूंगा या नही। किन्तु जैसे मुझे सूझेंगे, वैसे उत्तर तो मै दूंगा ही। फिर मुझे पानी पीने देना या न पीने देना, सो तुम्हारी मुन्सिफ़ी की बात है।"

फिर तो यक्ष ने युधिष्ठिर महाराज से कई प्रश्न पूछे, और युधिष्ठिर महाराज ने उनके सुन्दर उत्तर दिये। युधिष्ठिर की धर्मबुद्धि से, उनके अनुभव से, और उनकी वाणी से यक्ष प्रसन्न हुआ और कह उठा—"युधिष्ठिर तुम्हारे उत्तरों से मै प्रसन्न हुआ हूँ; इसलिए तुम्हारे इन चार भाइयों में से जिसे तुम कहो, उस एक को मै जिला दूं।"

युधिष्ठिर ने तुरन्त ही कहा—"अच्छी बात है, महाराज ! तो आप इस नकुल को जिला दीजिये।"

यक्ष ने कहा— युधिष्ठिर ! तुम्हारी यह माँग मुझे मूर्खतापूर्ण मालूम होती है। यह जो भीम यहाँ सोया है इसके बल पर तो तुम अपने वनवास के दिन बिता सके हो। और इस अर्जुन के पराक्रम पर तो बनवास के बाद की तुम्हारी सारी आशा टिकी है। इन दोनों को मरा छोड़कर इस नकुल को जिलाने की इच्छा करनेवाले तुम मूर्ख नही, तो और क्या हो ? फिर से सोचो; मैं तुमको दुबारा सोचने का अवसर देता हूँ।"

युधिष्ठिर जरा तन गये और बोले—"महात्मन् ! मैंने जो माँगा है, यथार्थ ही है। मेरे पिता पाण्डु के दो स्त्रियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्ती के पुत्रों में से एक मैं जीवित हूँ, तो मेरी माता माद्री का एक पुत्र तो जीवित चाहिए न ? मेरी दृष्टि में चारों समान है, किन्तु जब चार मे से एक ही को जिलाने का प्रश्न सामने हो, तब तो मेरे साथ माद्री-पुत्र नकुल का जीवित रहना इष्ट है।"

यक्ष की खुशी का पार न रहा। उसने कहा—"राजन् ! तुम धर्म के तत्त्व को भली भांति जानते हो, और जो जानते हो, उस पर आचरण करते हो इस कारण मै तुम पर और भी प्रसन्न हुआ हूँ। मैं कहता हूँ, तुम्हारे सभी भाई जी उठें !"

यक्ष के मुंह से अभी ये शब्द निकले ही निकले थे, कि चारों पाण्डव जमुहाई लेते हुए उठ बैठे, और एक दूसरे की ओर देखने लगे।

मृत्यु के मुह से लौटकर आये हुए अपने भाइयों को देखकर युधिष्ठिर का हृदय पुलकित हो उठा।

किन्तु उनके मन में एक प्रश्न खड़ा हो गया —"आखिर यह यक्ष है कौन ?"

"चलो, हम यक्ष से ही विनम्रतापूर्वक पूछें कि वह कौन है ?

सबने एक साथ कहा।

युधिष्ठिर ने पूछा—"हे यक्ष! कृपा कर हमें बताइए कि आप कौन हैं?"

जवाब मिला—"बेटा युधिष्ठिर! मै तुम्हारा पिता धर्मराजा हूँ। तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते रहो और मुझे कभी न भूलो, इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ; शुद्ध नाम, सत्य, दम, पवित्रता, सरलता, ईश्वर का डर, साहस, दान, तप, और ब्रह्मचर्य, ये दस मेरे अंग हैं। इन्हें तुम कभी न भूलना!"

इतना कहकर यक्ष ने पाण्डवों को बिदा किया।

: १४ :

भगवान के नाम पर

गाँव की सीमा पर भूतनाथ का मन्दिर था। एक छोटा-सा देहरा। पास ही एक छोटा ओसारा था। ओसारे के सिरे पर एक नन्ही-सी कोठरी थी, कोने मे कुआ और उससे लगा हुआ बाबाजी का घर। किसी को याद नहीं कि इन भूतनाथ की प्रतिष्ठा कब हुई। गांव के ब्राह्मण तो इन शंकर की गिनती ज्योतिर्लिगो मे ही करते है।

सबेरे के कोई दस का अंदाज होगा। यशोदा महादेव के दर्शनों को आई। कोई चालीस साल की अधेड़ उमर, सफ़ेद कपड़ों के अंदर से झाँकती हुई गोरी देह, गौरव से दीप्त मुख-मण्डल, हथिनी-सी चाल, भाल पर बिन्दी, दोनो हाथों मे पूजा का सामान, गले में माला! भूतनाथ के दरवाज़े को धका कर यशोदा अदर आई, मन्दिर के गणपति को आचमनी से पानी चढाया, शकर की विधिवत् पूजा की और बाहर निकल कर पीपल को भी पानी सींचा।

"क्या बाबाजी है?"

"नहीं है, माँ! अभी-अभी आटा माँगने गये है।" बाबाजिन ने उपले पाथना छोड़कर नेक गरदन घुमाई और जवाब दिया।

"मालूम होता है, आज कोई मेहमान आये है।"

"हाँ माँ! कल शाम से आये है। कोई बड़े अच्छे जोगी-से मालूम होते है। कल तो आधी रात तक आँखें मूँदे बैठे ही रहे, और फिर

भिनसारे जब मैंने चक्की शुरू की, तो उनका अपना तम्बूरा बज ही रहा था।" बाबाजिन ने कहा।

"तो फिर आज उन्हें भिक्षा के लिए मेरे घर भेज देना।"

"माँ ! यहाँ जो कुछ है, सब आप ही का है न ? कल रात तो उन्होंने ब्यालू करने से इनकार कर दिया था। अभी के लिए बाबाजी कह गये हैं कि कुछ साग-सब्ज़ी लेते आवेंगे। मेहमान का कोई बोझ थोड़े ही होता है, माँ ? सब आपका परताप है।"

"प्रताप तो भोलानाथ का है, बहन ! हम तो उसके पैर की धूल हैं। लेकिन उन्हें जीमने ज़रूर भेजना। मैं और किसी को खोजूंगी नहीं।"

"अच्छा माँ ! आ जायँगे।"

"आज वे घर नहीं हैं, सो कोई बुलाने नहीं आ सकेगा।"

"कोई बात नहीं; बाबाजी उन्हें छोड़ आयेंगे; और नहीं तो यह सन्तो है ही। इसने कौन घर नहीं देखा ?"

"बस, सन्तो को भेज देना। देखना भला, बहुत देर न हो जाय। दाल तो चढ़ा कर ही चली थी। जाकर तवा रखने की देर है।"

"आप बिलकुल बेफ़िकर रहिये। सन्तो जोगी महाराज को लेकर पहुँच जायगी।" कहते हुए बाबाजिन ने यशोदा को बिदा किया और फिर उपले पाथने लगी।

इन योगिराज को पहचाना ?

स्वयं देवर्षि नारद–ब्रह्मा के पुत्र और भगवान् विष्णु के लाड़ले मुनि। नारद की खड़ी चोटी और उनका तम्बूरा सारे संसार में प्रसिद्ध है। आप स्वभाव के बड़े मसखरे हैं, और लोगों को लड़ाने में इतने निपुण कि आपकी फैलाई माया से भुलावे में पड़कर खुद देवता

भी आपस में लड़ पड़ते हैं। जितना आपका तम्बूरा मशहूर है, उतनी ही लोगों में लडाई लगाने की यह निपुणता भी। लेकिन इस सबके अन्दर झाँक कर देखें, तो मालूम होता है कि नारद मुनि तो स्वयं परमात्मा के अन्तःकरण रूप हैं। ससार में जब-जब मानव-समाज के अन्दर दीनता का और दुखों का पार नही रहता, तब तब नारद उस दीनता के और दुःखों के कारण का पता लगाते है, और फिर दौड़े-दौड़े भगवान विष्णु के पास जाते हैं और उनसे आग्रह करते है कि कोई रास्ता निकाले। प्राणिमात्र की छोटी-से-छोटी वेदना भी उनको व्याकुल बनादेती है, और वे उसे मिटाने के लिए ज़मीन-आसमान एक कर देते है। विष्णु भगवान् के द्वार नारद मुनि के लिए आठों पहर खुले रहते है।

"महाराज ! अब उठिये। आपको यशोदा माँ के घर भिच्छा के लिए जाना है। अरी सन्तो ! सिर पर ओढ़नी डाल ले, ओढ़ना !"

"ये यशोदा माँ कौन है ?"

"सबेरे दरसनो को आई थी न ? हमारे ऊपर तो उनकी पूरी-पूरी छाँह है। सब उन्ही का परताप है परब-त्यौहार पर वे हमें कभी भूलती नही। सिवरात तो उन्ही की समझिये। आप कभी सावन में आवें, तो देखें कि यहाँ बाम्हन समाते नही। सारे दिन मतर-जतर पढ़ते रहते है, पाठ-पूजा चला करती है; और यशोदा माँ है कि उन्हे फलहार कराती है, लड्डू खिलाती है, धोती दुपट्टा देती है दान-दच्छिना देती है और भी न जाने क्या-क्या देती रहती है। कभी आप सावनिया सोमवार के दिन यहाँ आयेंगे, तो सब अपनी आँखों देख सकेंगे।" बाबाजिन ने कहा।

"तो फिर आज यहाँ कोई ब्राह्मण क्यों नही आया ?"

"भला, रोज़-रोज़ वे क्यों आने लगे ? रोज़ तो बाबाजी ही शंकर को नहलाते हैं, कनेर के फूल चढ़ाते हैं, और जब दोपहर होते-होते आटा माँग कर लौटते हैं, तो भगवान् को पवारते हैं। रोज आने वालों मे तो एक माँ है और दूसरा लच्छू राजगीर।

"यह लच्छू और कौन है ? शायद कोई भक्त होगा !"

"भगत कैसा महाराज ! वह तो बाबाजी की चिलम में से दो चार कस खींचने के लालच से आ जाता है और जब आता है, तो नेक घण्टी बजाकर बम-बम-बम भी कर ही लेता है न ?" बाबाजिन ने कहा।

नारद ने पूछा—"यहाँ ब्राह्मणों की बस्ती कितनी है ?"

"बड़ी बिचारी, मुझसे कहती है, जल्दी कर, जल्दी कर; मुझे खेलने तक नहीं देती, और आप घण्टो खड़ी बाते करती रहती है।" सन्तो बड़-बड़ा उठी।

"महाराज ! हम तो बातों मे उलझ गये, और उधर माँ बेचारी बैठी आपकी राह देख रही होंगी ?"

"अच्छा, तो मै हो आऊँ।"

सन्तो ! जोगिराज को माँ के घर छोड़कर झट लौट आना, भला ! रास्ते मे कहीं खेलने न लग जाना।"

"हाँ, तो मै रोज खेलने लग जाती हूँ, क्यों ? बड़ी बिचारी......।" सन्तो मुह फुलाकर बोली।

आगे-आगे घाघरी फहराती सन्तो और उसके पीछे नारद मुनि। गाँव के छोटे-से बाज़ार को पार करके दोनों यशोदा के घर पहुँचे और सन्तो ने आगल खोली।

"कौन है ?" अन्दर से आवाज़ आई।

"यह तो मैं, जोगी महाराज को लेकर आई हूँ।"

"पधारे ? योगिराज पधारे ? पधारिये महाराज !" यशोदा ने नारद का स्वागत किया। हाथ-पैर धोने को पानी दिया और पटे बिछाये ।

"सन्तो ! तुझे काम न हो, तो बाहर चबूतरे पर बैठ । भोजन के बाद महाराज को वापस घर जाना होगा न ? तू लिवा जाना ।"

"अच्छा माँ ! मै बाहर आँगन में खेलती हूँ ।"

नारद मुनि पटे पर बैठे। साफ़-सुथरा लिपा-पुता घर, दीवार से जड़े पटियों पर आईने-से उजले बरतनों की कतारे सजी हुई, कमरे में चारों तरफ़ रेशमी परदे और मोती के तोरण, कोने मे देव-मन्दिर के धूप-दीप और फूलों की सुगन्ध ! इतना सुन्दर घर होते हुए भी उसमें कुछ ऊना था। नारद मुनि को घर की शान्ति बहुत ही भली लगी; किन्तु इस स्वच्छता और शान्ति के पीछे उन्होंने किसी अभाव का अनुभव किया ।

"महाराज ! आपकी आज्ञा हो, तो परोसना शुरू करूँ ?" यशोदा ने नम्र भाव से पूछा ।

"किन्तु, क्या घर मे ओर कोई है ही नहीं ?"

"जी, वे गाँव गये है । शायद आज साँझ तक लौटें। आने पर वे आपके दर्शनों का लाभ अवश्य लेगे ।"

"तो क्या बच्चों को भी अपने साथ ले गये है ?'

और, यशोदा की आँखों से दोहरा उत्तर बह चला। नारद मुनि स्तब्ध होगये--"बात क्या है ?"

"बहन ! तुम रोती क्यो हो ? क्या तुम्हारे कोई बालक नहीं ?"

"योगिराज ? उस जन्म मे अनेक दुधमुँहे बच्चो का गला घोटा होगा, इसीलिए भगवान् ने इस जन्म मे मुझ को बाँझ बनाया है ।

घर है, बार है, प्रभु की कृपा से घर में दो पैसे भी हैं, लेकिन अपने पेट की कोई सन्तान नही। जैसी प्रभु की इच्छा ! इस जन्म में आपके समान साधु-सन्तों के आशीर्वाद लेकर मरूँगी, तो अगले जन्म में बाँझपन का यह कलंक मिटेगा।"

नारद मुनि व्यथित हो उठे, "जहाँ खाने को दाने नहीं मिलते, वहाँ बाल-बच्चों की भीड़ लग जाती है, और यह बेचारी एक बालक के लिए तरसती है, इसे कुछ नही ? मालूम होता है, विष्णु के दरबार में भी सौ मन तेल तले अंधेरा ही है ! यह बेचारी कितनी श्रद्धालु है ? शंकर पर रोज़ मछलियाँ धोने वाले के घर दर्जनों बालक, और इस यशोदा के लिए यह बाँझपन ? कैसा विश्व का न्याय है ? मेरे जैसे न जाने कितने साधु-सन्त इसके यहाँ भिक्षा पाते हैं। कहने को विष्णु भगवान् कहेंगे कि तुम सब मेरे अपने हो; किन्तु हमारी शक्ति कितनी ? क्या एक श्रद्धालु स्त्री को हम एक सन्तान भी नही दे सकते ? चलूं पहले भगवान् विष्णु से ही जाकर मिलूं, फिर दूसरी बात।" नारद-मुनि ने पटे पर बैठे-बैठे ही समाधि लगाई, और भगवान विष्णु के पास पहुँचे।

"क्यों नारद ? इस समय कहाँ से आये ? बैठो, बैठो !"

"महाराज ! बैठने की फ़ुरसत नहीं है। एक महत्त्व की बात पूछने चला आया हूँ।"

"क्या है, पूछो न ?"

"उस यशोदा के अभी तक कोई सन्तान क्यों नही, महाराज ?"

"आज जिसके घर तुम भिक्षा लेने गये थे, वही यशोदा न ? उसे इस जन्म में तो ठीक, अगले छह जन्मों में भी कोई बालक न होगा।"

"अरे-रे-रे, महाराज ! यह कैसा अन्धेर है ?"

"जैसे जिसके कर्म ! मैं तो कर्म के अधीन हूँ।"

"महाराज ! हम साधुओं को उसके घर इतनी भिक्षा मिलती है, तो भी उसे कोई सन्तान न होगी ?"

"भाग्य मे ही न हो, तो क्या किया जाय ?"

"महाराज ! मै, नारद, आपसे प्रार्थना करता हूँ। क्या उसे एक भी बालक नही मिल सकता ?"

"मुझे तो नही दीखता।"

"आप बिलकुल सच कहते है ?"

"जो है, सो कहता हूँ।"

नारद की समाधि खुली। "जिसे एक बालक तक दिलाने की शक्ति अपने में नहीं, उसके घर भिक्षा लेने से क्या लाभ ?" यह सोचते हुए नारद ने पटा छोड़ दिया। वह उठ कर खड़े हो गये।

"हम बाँझों के घर का अन्न आप ग्रहण नही करेंगे ?" यशोदा इससे अधिक कुछ कह न सकी, और नारद सीधे गाँव छोड़कर आगे बढ़ गये।

नारद के जाने पर यशोदा ने सारी रसोई गायों को खिला दी और स्वयं दिन-भर भूखी रही।

× × ×

फिर तो कई दिन बीत गये। यशोदा रोज़ भूतनाथ के दर्शनों को जाती, रोज़ एक साधु को भोजन करा कर जीमती और रोज़ भगवान् शंकर से एक ही वस्तु माँगती।

एक बार एक अमावस के दिन यशोदा ने खीर-पूरी का भोजन बनाया, और अर्घी-पर्घी रसोई बनाकर वह भूतनाथ के दर्शनों को गई।

मन्दिर में जाकर भगवान भूतनाथ की पूजा की, और फिर पता लगाया कि कोई अतिथि-अभ्यागत है या नहीं; लेकिन कोई था नहीं।

"अमृत बहू ! मैं अपने घर जाती हूँ। कोई अभ्यागत आ पहुँचे तो मेरे घर भेज देना; मैं चूल्हे पर कढ़ी चढ़ा कर आई हूँ।"

यशोदा घर गई, रसोई मे लगी, रसोई तैयार भी होगई; लेकिन कोई अभ्यागत नहीं आया।

यशोदा फिर बाहर निकली। गाँव के दरवाज़े तक गई। पूछ-ताछ की। भूतनाथ मे पता चलाया। लेकिन कही कोई न मिला।

"माँ! रोज़ एक-न-एक साधु मिल ही जाता है; और आज जब तुमने खास रसोई बनाई है, एक भी साधु का पता नही! अजब बात है!"

"बाँझों के भाग मे और क्या होगा, बहन!"

"माँ! यह तुम क्या कहती हो? यह भला भगवान् अब मुझे बच्चे न दे तो अच्छा हो। बाबाजी का माँगा हुआ आटा भी अब तो पूरा नही पड़ता। हे भगवान! अब तो माँ के घर पलना बँधने दे!"

"वह, उस तरफ से कौन आ रहा है?"

दूर, एक अन्धा चला आ रहा था। सिर पर एक चिथड़ा लपेटे था, पैरों मे घुटनों तक धूल लगी थी, पिंडलियों पर खरोंचे थी, हाथ में लाठी। लाठी टेकता-टेकता अन्धा चला आ रहा था।

"अमृत बहू! यह कोई साधु मालूम पड़ते है; ज़रा पूछो तो, मेरे घर जीमने चलेंगे?"

"महाराज! ये यशोदा माँ आपको भिक्षा के लिए बुलाने आई है।"

"मैया, तुम्हारा कल्याण हो! चलो, मैं यह आया।" आगे यशोदा, पीछे सूरदास।

यशोदा ने सूरदास के हाथ-पैर धुलाये, उनको पटे पर बैठाया, और चाँदी की थाली और कटोरियों में भोजन परोसा।

"महाराज! अब आप शुरू कीजिये।"

"अच्छा, तो मैं बैठूं?"

और सूरदास ने खाना शुरू किया। सूरदास तो सात-सात दिन का भूखा था। बैसाख-जेठ की धूप में तपी ज़मीन के अन्दर पानी जिस तरह पैठ जाता है, उसी तरह उस रसहीन शरीर में खीर जाने लगी। एक कटोरा, दो कटोरे, चार कटोरे। यशोदा भी पुलकित भाव से हँस-हँस कर परोसने लगी।

"बस, अब तृप्त हो गये मैया! भगवान् तुम्हें सात बच्चे दें!" सूरदास के मुह से बात निकल पड़ी।

"महाराज! आप महान् हैं। लेकिन जहाँ एक का ठिकाना नहीं, वहाँ सात का क्या भरोसा?"

"मैया! आज मैं खूब तृप्त हुआ हूँ। भगवान् तुम्हें सात बच्चे दें!"

ऐसे तो न जाने कितने आशीर्वाद यशोदा को मिल चुके थे; उनमें एक और जुड़ गया!

सूरदास तो खा-पीकर और तृप्त होकर चले गये, और यशोदा अपने काम से लगी।

किन्तु भगवान् ने यशोदा को अच्छे दिन दिखाये; उसके घर पुत्र पैदा हुआ। पुत्र-जन्म की खुशी में उसने भूतनाथ के लिए चाँदी की जलधारी बनवाई, एक दिन सारे गाँव के चूल्हे बन्द रखवाये, और पाठशाला में शकर बँटवाई।

कोई तीन साल बाद दूसरा फल, फिर दो साल बाद तीसरा फल, यों एक-एक करके यशोदा के सात बच्चे हुए।

फिर एक बार नारद मुनि उसी गाँव में आ पहुंचे, और भूतनाथ ही मे ठहरे। सवेरे कोई दस बजे यशोदा दर्शनों को आई। आगे-आगे एक बालक हाथ में पूजा की थाली लिये शान से चल रहा था, एक नन्ही-सी बालिका के हाथ मे चाँदी की छोटी कलसी थी, कमर पर लिया हुआ एक बालक वहाँ बैठा-बैठा माँ की पीठ पर हाथ चला रहा था, और चौथा माँ की अँगुली थाम उसके साथ चल रहा था। दल ने भूतनाथ के मंदिर मे प्रवेश किया। नारद मुनि ओसारे में बैठे तम्बूरा बजा रहे थे। उनकी दृष्टि इस दल पर पड़ी। उन्होंने यशोदा को पहचाना। यशोदा ने मुनि को पहचाना।

नारद ने पूछा—"बहन! ये बच्चे किसके है?"

"महाराज! भगवान् की माया है। आप-जैसों के आशीर्वाद फले है।"

नारद तो स्तब्ध रह गये! "इस......................यशोदा के ये बच्चे!"

"महाराज! अब आज तो आप भिक्षा लेने पधारेगे न? उस दिन तो मुझ बाँझ के घर का अन्न आपने खाया नहीं था।" यशोदा ने नम्रतापूर्वक निमंत्रण दिया।

लेकिन सुनता कौन?

"इस यशोदा के ये बच्चे! जिसके नसीब में सात-सात जन्म तक एक भी सन्तान न थी, उसके ये बच्चे? या तो भगवान् विष्णु झूठे हैं, या यह जो मैं अपनी आँखों देख रहा हूँ, सो झूठा है। चलूँ, भगवान् से ही जाकर पूछूँ।"

नारद तो समाधि मे लीन हो गये, और लाल-पीले होते हुए भगवान् के पास पहुँचे।

"क्यों नारद ?"

"भगवन्........."

"नारद ! इस समय मै बहुत ही काम में हूँ।"

"भगवन् ! मुझे केवल एक छोटी-सी बात पूछनी है।"

"अच्छी बात है; लेकिन पहले तुम मेरा एक काम कर दो। फिर मै निश्चिन्त होकर तुम्हारी बात का जवाब दूंगा।"

"क्या आज्ञा है, महाराज ?"

"मैने एक ऐसा यज्ञ शुरू किया है, जिसमें एक हज़ार आदमियों के सिर की ज़रूरत है। नौ सौ निन्यानवे तो इकट्ठा हो चुके हैं, एक हजारवाँ, कम पड़ता है। सो तुम ज़रा जल्दी ही ले आओ न ?" भगवान् ने कहा।

"महाराज ! क्यों कोई अपना सिर देगा ?"

तुम तो सिर्फ़ इतना ही कहना—"भगवान् के नाम पर कोई अपना सिर दो, और जो कोई दे, सो लेकर चले आना।"

"जैसी आज्ञा !"

नारद मुनि तो भगवान् के लिए सिर लेने निकले। नारद चौदहों लोकों में आ-जा सकते थे; इसलिए हरएक लोक में जा-जाकर उन्होंने भगवान् के नाम पर सिर माँगना शुरू किया। वे बड़े-बड़े आश्रमों में घूमे, बड़े-बड़े देव-मन्दिरों के चक्कर काटे, बड़े-बड़े ऋषिकुलों में गये, धार्मिक लोगों की सभाओं मे जाकर उन्होंने अपनी माँग रक्खी, जहाँ वेद-वेदान्त की कथायें पढ़ी जाती थी, वहाँ भी वे पहुँचे, जहाँ भागवत के पारायण होते थे, वहाँ भी गये, बारह-बारह वर्षों से जहाँ यज्ञ हो रहे थे, वहाँ भी सवाल डाला; लेकिन कहीं से सिर न मिला।

"मेरा यह त्रिलोक का नाथ भी आख़िर पागलों की-सी बात करता है न ? मैं तो भटक-भटक कर थक गया, पर सिर नहीं मिला। चलूँ, अब इस जंगल में आवाज़ लगाता हुआ भगवान् के पास पहुँच जाऊँ।" नारद ने सोचा।

"है कोई, जो भगवान् के नाम पर सिर दे ?" नारद ने जगल में पुकारना शुरू किया।

दूर, एक आम के पेड़ तले एक सूरदास बैठा हुआ था।

पहचाना इस सूरदास को ? वही, हमारी यशोदावाला सूरदास है, जो उस दिन खीर के चार कटोरे चढ़ा गया था।

सूरदास ने नारद की पुकार सुनी और पूछा—"भाई, किसके लिए सिर चाहते हो ?"

"कह तो रहा हूँ कि मेरे भगवान् के लिए।"

"अगर भगवान् के लिए चाहिए तो लो, इसे ले जाओ।"

जितनी आसानी के साथ बेल पर से खरबूजा काट लेते है, नारद ने उतनी ही आसानी से सूरदास का सिर काट लिया, और तुरन्त ही भगवान् के पास पहुँचे।

"महाराज !"

"अच्छा, नारद है ! आ गये ? सिर मिला ?"

"पहले तो कोई आशा न रही थी। आशा रखकर जहाँ-जहाँ गया वहाँ निराशा ही पल्ले पड़ी; किन्तु अन्त में एक सूरदास मिला, उसने सिर दिया।"

"अच्छा हुआ।"

"किन्तु महाराज ! अब मेरी बात का जवाब दीजिये न ?" नारद ने ज़रा तमक कर कहा।

"बोलो, क्या चाहते हो ?"

"महाराज ! आपने मुझसे कहा था न कि यशोदा के नसीब में सात-सात जन्म तक कोई बालक नहीं है।"

"हाँ, कहा था; ठीक तो है।"

"तो फिर उसके चार बच्चे तो मैंने आज अपनी सगी आँखों देखे !"

"हाँ, सो भी ठीक है।"

"क्या ठीक है ? सात जन्म तक बच्चे न होंगे, यह भी ठीक, और मैं चार बच्चों को आज अपनी आँखों देख आया, यह भी ठीक ?"

"नारद ! उसके नसीब में तो सात जन्म तक बच्चे थे ही नहीं।"

"तो फिर ये कैसे हुए ?" नारद ने चिढ़कर पूछा।

"एक दिन यशोदा के घर एक साधु जीमने पहुँचे। जीम कर तृप्त होने पर उन्होंने यशोदा को आशीर्वाद दिया—'मैया ! भगवान् तुम्हें सात बच्चे दें !' और उसे बच्चे हुए।"

"भगवन् ! मैंने आपसे पूछा था कि आप कहें, तो मैं भी उसे आशीर्वाद दूँ; लेकिन आप तो यही कहते रहे कि उसके नसीब में बच्चे हैं ही नहीं।" नारद गुस्सा हुए।

"हाँ, मैंने कहा था। अब सुनो, वह साधु जो था, सो यह सूरदास ही था। अगर आशीर्वाद देते समय वह मुझसे पूछने आता, तो उसे भी मैं यही जवाब देता।" भगवान् ने कहा। "लेकिन वह तो पूछने को ठहरा ही नहीं। उसने तो बिना सोचे-समझे आशीर्वाद दे ही डाला।"

"उसने तो दे डाला, लेकिन आपने उसे सफल क्यों होने दिया ? आप तो कर्म के अधीन हैं न ?"

"नारद ! मैं कर्म से भी अधिक अपने भक्तोंके अधीन हूँ। यह सूरदास मेरा भक्त है; मेरे लिए तो इसने अपना सिर दे दिया!" भगवान् बोले।

"तो हम भक्त नही है ? रात-दिन एक करके हम आपके लिए सिर ढूँढ़ते फिरें, मरें, खपें, सो किसी हिसाब में नही, क्यों ?" नारद का क्रोध बढ गया।

"नारद ! ज़रा शान्त होओ। तुम्हारी भक्ति में और इस सूरदास की भक्ति मे भेद है।"

"क्या ?"

"मैंने तुमसे हज़ारवाँ सिर लाने को कहा, तो तुम दूसरे का सिर लाने निकल पड़े न ? ख़ुद अपना सिर तुमने क्यों नही उतार कर दे दिया ?"

नारद की आँखें नीचे की ओर झुक गई।

"सच है कि यशोदा के सात जन्म तक कोई संतान नही होने वाली थी। लेकिन जो मेरे लिए एक क्षण का भी विचार किये बिना अपना सिर उतार कर दे दे, उसके लिए मुझे सब कुछ करना चाहिए, ऐसा मेरा बिरद है ! ऐसे भक्तों के वचन तो चित्रगुप्त के लिखे जन्म-जन्मान्तर के जमा-उधार को भी छेक सकते हैं, और ख़ुद मुझको भी बेच सकते हैं ! आज तो तुम इन सूरदास का सिर लाये हो, लेकिन तुम नहीं जानते कि ऐसे भक्तों की चरणरज से पवित्र होने के लिए तो मै निरन्तर उनके पीछे-पीछे भटकता रहता हूँ।"

नारद गहरे आत्मध्यान में लीन हो गये। अपनी जिस भक्ति का उन्हें गर्व था, वह आज खर्व हो गया। बोले—"महाराज ! क्षमा कीजिये, मै आपको समझ नहीं पाया।"

नारद की समाधि टूटी। उन्होंने यशोदा के बालकों को आशीर्वाद दिये, उसके घर भिक्षा ग्रहण की और फिर मानव-समाज की पीड़ाओं का पता लगाने के अपने सनातन काम पर वे चल पड़े।

: १५ :

गंगावतरण

सगर राजा के दो रानियाँ थीं; एक से असमंजस् और दूसरी से ६० हज़ार पुत्र हुए ।

असमंजस् बचपन से ही उच्छृंखल और दुष्ट था। सारा नगर उसके नाम से चिल्लाता था। कोई घर ऐसा न था, जिसे उससे शिकायत न हो। राजकुमार असमंजस् सारे नगर के लड़कों से लड़ता–झगड़ता, किसी को काटता, किसी को औंधे सिर लटकाता, किसी को गरदन पकड़ कर ूँसे लगाता, और कुछ को ठेठ नदी तक घसीट कर ले जाता और पानी में डुबो देता ! राजधानी मे कोई दिन ऐसा न बीतता, जब लड़कों के खून न निकला हो; किसी की आँख में चोट लगती, किसी का सिर फूटता, बहुतेरों के बदन छिल जाते और किसी-किसी के घर तो रोना, पीटना मच जाता ! लोग त्राहि-त्राहि पुकार उठे; किंतु राजा का लड़का ठहरा, कहे कौन ?

कई दिनों तक यही सिलसिला चलता रहा। आखिर एक दिन लोग राजा के पास शिकायत लेकर पहुँचे, "महाराज ! आप चोरो और डाकुओं से हमारी रक्षा करते हैं, किंतु अपने पुत्र से आप हमें नही बचाते। राजकुमार हमारे बाल-बच्चों को बहुत ही सताते हैं, यही नहीं बल्कि उन्हें नदी में भी डाल देते हैं।"

लोगों के ये वचन सुनकर सगर राजा को बहुत दुःख हुआ, और बड़े खिन्न व उदास भाव से उन्होंने कहा—"मेरा पुत्र ही मेरी प्रजा को सताता रहता है! मैं राजा हूँ; मैं तो प्रजा के जान-माल की रक्षा करनेवाला हूँ। यदि मेरी प्रजा को मेरी ओर से ही तकलीफ़ पहुँचती है तो फिर मैं राजा कैसा? मैं ही बड़े-से-बड़ा लुटेरा हूँ। आप जाइये, कुमार असमजस् को मैं इसी समय राज्य की सीमा से बाहर निकाले देता हूँ।"

असमजस् को देश-निकाला दिया गया।

एक बार सगर राजा ने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया। अश्वमेध यज्ञ अर्थात् घोड़े को होमने का यज्ञ। इस यज्ञ में जिस घोड़े को होमा जाता है, वह अश्व शास्त्र की दृष्टि से किसी भी प्रकार के दोष या ऐब वाला न होना चाहिए; घोड़े की आँख में, उसकी पूँछ मे, उसके मुह में, उसकी चाल में, और उसकी पीठ में किसी तरह का कोई दूषण न होना चाहिए। यह घोड़ा पृथ्वी पर खुला छोड़ दिया जाता है, और इसकी रक्षा के लिए एक हज़ार सैनिक बराबर इसके पीछे-पीछे घूमते रहते है। यह घोड़ा जिस राजा की हद में जाता है, वह इसे खुला घूमने दे, और बाँध न ले, तो समझना चाहिए कि उस राजा ने यज्ञ करनेवाले राजा को बड़ा मान लिया है। लेकिन यदि कोई राजा इस तरह अपनी हद में आये हुए घोड़े को खुला न रहने दे, बल्कि बाँध ले, तो समझना चाहिए कि वह स्वयं यज्ञ करनेवाले राजा को अपने से बड़ा नहीं मानता। ऐसा होने पर घोड़े के साथ घूमने वाले हज़ार सैनिक अपने घोड़े को छुड़ाने के लिए उस राजा से लड़ाई छेड़ते हैं। लड़ाई के बाद अगर घोड़ा खुल गया, यानी सैनिक उसे छुड़ा सके, तो वह फिर से आगे चलना शुरू कर देता है, नहीं तो बात वहीं अटक जाती है।

इस तरह जब यज्ञ का घोड़ा सभी राजाओं के प्रदेश में स्वतंत्र भाव से घूमता-फिरता वापस अपने राजा के पास आ जाता है, तभी यज्ञ शुरू होता है, अन्यथा नही। जो राजा ऐसे सौ अश्वमेध यज्ञ करता, उसे इन्द्र का इन्द्रासन मिलता।

सगर राजा ने अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा, और उसकी रक्षा के लिए अपने साठ हज़ार पुत्रों को घोड़े के साथ भेजा। एक बार घोड़ा हरे-भरे खेतों में इधर-उधर चर रहा था, और सगर के पुत्र जहाँ-तहाँ भटक रहे थे। इतने में घोड़ा एकाएक लुप्त हो गया। कुछ देर बाद राजकुमारों ने देखा तो घोड़ा ग़ायब! सब सोच में पड़ गये। इधर-उधर दौड़े। खोजा-ढूँढ़ा। मगर पता न लगा। आखिर सगर के पास जाकर बोले—"पिता जी! कोई हमारे घोड़े को उड़ा ले गया है। कौन ले गया, हम नहीं जानते। कहिये अब हम क्या करे?"

सगर को क्रोध चढ़ा। बोले—"तुम क्षत्रिय पुत्र हो। तुम्हें यह कहते शरम नही आती कि घोड़ा कौन ले गया, सो तुम नहीं जानते? क्षत्रिय बच्चा तो आठों पहर जागता ही रहता है। कोई उसकी आँख में धूल झोंककर छोटी-सी सूई भी ले जाय, तो थुड़ी है उसकी जिन्दगी पर! जाओ, घोड़े का पता लगाकर ही वापस आना!"

राजकुमार फिर चल पड़े। जहाँ घोड़ा चरने के लिए छोड़ा था, वहाँ फिर देखा-भाला; लेकिन कोई पता न चला। उसके बाद तो राजकुमारों ने बड़े-बड़े पहाड़ लाँघे, छोटी-मोटी नदियों और नालों को छान डाला, बड़े-बड़े जंगलो में भटके, सारी पृथ्वी की गुफाओ को देख डाला, राजा-महाराजाओ के महलो में जाकर देखा, लेकिन घोड़े का कहीं पता न चला! थके-माँदे वे सब फिर सगर के पास आये और बोले—"पिता जी! हमने नदी, नाले, पहाड़, जंगल, गुफा सभी छान डाले

किंतु घोड़ा कहीं न मिला। हमारी तो समझ में नहीं आता कि वह कहाँ चला गया है !"

सगर की आंखों में खून उतर आया। वह बोले—"जाओ, तुम चले जाओ ! जब तक घोड़े का पता न लगे, मुझे अपना मुँह न दिखाना।"

राजकुमार सब लौट पड़े। चलते-चलते एक कुमार के मन में अचानक यह विचार आया—"घोड़े को कोई पाताल में तो नहीं ले गया होगा ?" साठों हज़ार भाइयों ने इस विचार को पकड़ लिया, और जिस स्थान से घोड़ा लुप्त हुआ था, वहीं खोदने लगे। सगर राजा के साठ हज़ार पुत्र; उनके वे भयंकर मुंह और उनकी वे क्रूर करतूतें ! जब वे खोदने लगे, तो धरती डोल उठी, जंगल काँप उठे, नदी-नाले सूखने लगे, पहाड़ डगमगाने लगे; इन्द्र का इन्द्रासन भी क्षण-भर के लिए डिग उठा। महान् उल्कापात-सा मच गया !

खोदते-खोदते वे ठेठ पाताल तक पहुँचे। वहाँ उन्हें एक मनोहर अरण्य मिला। अरण्य के एक बड़े वृक्ष से सगर का घोड़ा बँधा हुआ था, और वहाँ से थोड़ी दूर एक रत्नशिला पर कपिल मुनि समाधि लगाये बैठे थे।

"अरे, यह रहा हमारा घोड़ा !"

"अरे हां, हमारा ही घोड़ा है; बिलकुल हमारा।"

"लेकिन इसे यहाँ बाँधा किसने ?"

"दीखता नही, अंधे हो ? वह जो चबूतरे पर बैठा है, उसी ने।"

"अरे, यह तो कोई ऋषि है, ऋषि !"

"क्या कहने हैं, ऋषि के ! यों आँख मूंद कर और तन कर बैठने से क्या कोई ऋषि बन जाता है ?"

इस तरह चर्चा चल ही रही थी कि इतने में सारा दल कपिल मुनि की रत्नशिला के पास जा पहुँचा।

"वाह रे मेरे ऋषि!" कह कर एक ने कपिल मुनि की दाढ़ी पकड़ी और हिलाई।

"अरे, तुम्हारी आवाज़ से इनकी तपस्या में बाधा पहुँचेगी।—" कह कर दूसरे ने कपिल के कान में लकड़ी ठूस दी।

"देखें, इसे ठीक से प्राणायाम करना आता है या नही?" तीसरे ने नथनों में छोटी-छोटी रस्सियाँ घुसेड़ीं।

"वाह रे तेरा आसन!" कह कर चौथा उनकी गोद में बैठ गया।

"भाइयो! चुप रहो, हल्ला मत करो! इसकी आत्मा ब्रह्मरंध्र में लीन हो गई है।" कह कर किसी ने सिर में टकोर मारी।

इस बीच हल्ले-गुल्ले के कारण कपिल मुनि की समाधि टूट गई; उनके चित्त का व्युत्थान हुआ और धीमे-धीमे आँख पर पड़ी हुई पलकें उघड़ने लगीं।

"वाह रे पट्ठे! एक तो घोड़ा चुरा कर ले आया, और फिर ध्यान लगा कर बैठा है!" किसी एक ने कहा।

दूसरे ने मुनि का माथा पकड कर हिलाना शुरू किया और कहा— "नहीं, नही; इस बेचारे को तो मालूम तक नही। यह तो भोला-भाला ऋषि है। यह क्या जाने कि हमारा घोड़ा कौनसा है? इसके हाथ घोड़े को खींच कर ले आये होंगे, और हाथों ने ही उसे यहाँ लाकर बाँध दिया होगा। क़सूर तो सब इसके हाथ का है, इसका नहीं। कहो, मुनि महाराज! ठीक है न?"

कपिल की पलकें उघड़ीं, सो उघड़ीं। सगर के सभी पुत्र उनकी ओर देखने लगे। उनकी छेड़-छाड़ और हँसी-मज़ाक तो चल ही रहा था।

इतने मे कपिल मुनि की आँखों से अग्नि प्रज्वलित हुई, और उसकी लपटों ने साठों हज़ार सगर पुत्रों को घेर लिया। फिर तो पूछना ही क्या था ? एक क्षण पहले जहाँ मानवों के दल-के-दल खड़े थे, वहाँ राख की ढेरियाँ लग गई, और साठ हज़ार राख की ढेरियो से वह स्मशान भर गया ! कपिल की पलकें फिर आँखो पर ढल पड़ी, और अरण्य में पुनः शान्ति छा गई।

सगर राजा अपने पुत्रों की और घोड़े की राह देखते-देखते थक गये। कुछ दिन बाद सगर को मालूम हुआ कि पुत्र तो सब जल कर भस्म हो गये है।

"अब क्या किया जाय ? असमजस् को देश-निकाला दे रक्खा है, और साठ हज़ार पुत्रो की यह गति हो चुकी है। यज्ञ न होगा, तो मेरा सकल्प अधूरा रहेगा और मेरी अवगति होगी।"

असमंजस् के अंशुमान नामक एक पुत्र था। सगर उसे अपने पास ही रखते थे। अंशुमान को अपने समीप बुलाकर सगर ने कहा—"बेटा ! तुम्हारे पिता को मने निर्वासित कर रक्खा है, और तुम्हारे साठ हज़ार काका कपिल के क्रोध से जल कर राख हो चुके है। कपिल के पास यज्ञ का घोड़ा है। तुम उसे ले आओ, तो मेरा यज्ञ हो सके, और अपना संकल्प पूरा करके मै स्वर्ग की यात्रा कर जा सकूँ।"

"जैसी आपकी आज्ञा !" कहकर अशुमान चल पड़ा, और उसके काकाओ ने जो मार्ग खोद रक्खा था, उस मार्ग से वह कपिल मुनि के आश्रम मे पहुँचा। राख की साठ हज़ार ढेरियों से घिरे हुए आश्रम मे कपिल मुनि को तपस्या करते देख अंशुमान वहाँ पहुँचा, और उन्हें प्रणाम करके बैठ गया।

बड़ी देर बाद कपिल ने पूछा—"बेटा ! कैसे आना हुआ ?"

"महाराज ! एक प्रार्थना करने आया हूँ।"

"क्या प्रार्थना है ?"

"इस झाड़ से यह जो घोड़ा बँधा है, सो कृपाकर मुझे दे दीजिये।"

"तुम इस घोड़े को सहर्ष ले जाओ। जानते हो, इसे यहाँ कौन बाँध गया था ?"

"नही महाराज !"

"सुनो ! तुम्हारे दादा ने निन्यानवे यज्ञ तो पूरे किये है, और यह उनका सौवाँ अश्वमेध है। यदि उनके सौ अश्वमेध पूरे हो जायँ, तो उन्हें इन्द्रासन मिले और इन्द्र को स्वयं हटना पड़े, इस डर से इन्द्र ही ने तुम्हारा यह घोड़ा चुराया है, और इसे यहाँ इस आश्रम मे बाँध दिया है।" कपिल ने कहा।

"स्वयं देवों मे भी इतनी ईर्ष्या रहती है ? यदि ऐसा है, तो फिर इन्द्र बना ही क्यों जाय ?" अंशुमान बोला।

"सच है। इसीलिए ऋषि स्वर्ग के लिए यत्न नही करते।" कपिल ने कहा।

"महाराज ! मेरे इन काकाओं को आपने जलाकर भस्म कर डाला है। क्या इनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं ?" अंशुमान ने हाथ जोड़-कर पूछा।

"देखो, तुम्हारे ये काका अपने पाप से इस दशा को प्राप्त हुए है। इनके घोर कर्मों की बात तुमसे छिपी नहीं। तिस पर इन्होंने समाधि के समय मुझको सताया, इससे मैं अपने क्रोध पर क़ाबू न रख सका।" कपिल ने कहा।

"वे थे तो इसी दशा के योग्य। किन्तु आपके समान मुनि के दर्शन करके भी मुझे अपने काकाओं के उद्धार का मार्ग न मिले, तो

आपके दर्शन वृथा हों। अतएव कृपालु ! इनके उद्धार का कोई मार्ग सुझाइए ।" अंशुमान ने नम्रतापूर्वक कहा।

कपिल ने क्षणार्द्ध के लिए अपने नेत्र मूँद लिये, और फिर अर्द्ध निमीलित नेत्रों से बोले—"बेटा ! इन काकाओं के उद्धार का एक ही मार्ग है। गंगाजी स्वर्ग से उतर कर अपने जल से इस राख को पवित्र करें, तो तेरे काकाओं का उद्धार हो। दूसरा कोई मार्ग नही।"

"कृपा हुई, महाराज !" अंशुमान ने उत्तर दिया। "अब हमारा काम है कि हम गंगाजी को पृथ्वी पर लायें।"

"बेटा, इसे तुम कोई छोटा-मोटा काम न समझना। यह एक आदमी के जीवन का भी काम नहीं। इसके लिए तो पीढ़ी दर पीढ़ी प्रयत्न करना होगा।"

"महाराज ! आप हमें यह आशीर्वाद दीजिये कि हम इस तरह का प्रयत्न कर सकें।" अंशुमान बोला और मुनि के आशीर्वाद सहित घोड़े को लेकर वापस सगर के पास आया।

इसके बाद अंशुमान ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए कठोर से ठोर तपश्चर्या शुरू की, और तपस्या करते-करते ही उसका देहान्त हो गया। अंशुमान के बाद उसका पुत्र दिलीप गादी पर बैठा। किन्तु दिलीप की गादी भोग-विलास के लिए थोड़े ही थी ? उस गादी पर बैठनेवाले को तो काकाओं के उद्धार के लिए तप का उत्तराधिकार मिला था, और दिलीप ने उसे अन्तःकरण पूर्वक स्वीकार किया था। दिलीप ने भी गंगाजी को लाने के लिए घोर तप किया, किन्तु तप का परिणाम निकलने से पहले वह भी चल बसा।

दिलीप के अवसान के बाद गादी का और तप का उत्तराधिकार उसके पुत्र भगीरथ को मिला। भगीरथ ने सगर के पराक्रमों की

कथायें सुनी थीं; भगीरथ ने असमंजस की और साठ हजार काकाओं की दुर्दशा के हाल भी सुने थे; भगीरथ ने अपने कुल के कलंक की बात भी मुनी थी; अपने कुल के इस कलक को धो डालने के लिए भगीरथ तैयार हो गया। भगीरथ ने उग्र तपश्चर्या आरम्भ की। गंगाजी उसकी तपस्या से प्रसन्न हुई और बोलीं—"बेटा, मैं तेरी तपश्चर्या से प्रसन्न हुई हूँ। माँग, माँग, वर माँग!"

भगीरथ ने कहा—"मातर्, पतित-पावनी गंगे! मैं भलीभांति जानता हूँ कि आप चाहें तो मुझे मोक्ष देने की सामर्थ्य रखती है। आपके समान देवता जब प्रसन्न होते हैं, तो उनसे मोक्ष छोड़ कर संसार की और कोई वस्तु माँगना मूर्खता है। किन्तु हे मातर्! आज मेरा मन मोक्ष नहीं चाहता। आज तो मेरे लिए मोक्ष से बढ़कर वस्तु मेरे इन काकाओं का उद्धार है। इसलिए हे देवि! मैं एक ही वस्तु माँगता हूँ। जिस तरह आप स्वर्ग में बहती हैं, उसी तरह पृथ्वी पर भी बहिये और अपने अमृत से हमारे मानव कुल को कृतार्थ कीजिये।"

गंगा बोलीं—"बेटा भगीरथ! तेरे दादा अंशुमान ने और तेरे पिता दिलीप ने इसी संकल्प के साथ अपनी देह छोड़ी है। तू भी इस सकल्प के लिए अपनी काया को घुला रहा है। किन्तु बेटा! तू नही जानता कि मेरे लिए भूलोक मे आना कितना कठिन है! आज मै विष्णुभगवान् के अँगूठे में समाई रहती हूँ। किन्तु वहाँ से निकलने पर मेरे स्त्रोत को कौन सहेगा? यदि मैं सीधी पृथ्वी पर पडूँ, तो पृथ्वी रसातल को चली जाय। मेरे अवतार का भार वहन करने के लिए किसी समर्थ-आत्मा की आवश्यकता है।"

भगीरथ क्षण भर निराश हुआ और बोला—"देवि! आपके गौरव को मैं समझता हूँ। आप ही बताइये कि कौन आपका भार वहन कर

सकेंगे। मेरे जैसा पामर इसे कैसे जाने ? मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि किसी भी तरह आपको पृथ्वी पर ला कर अपने काकाओं का उद्धार करना है।"

"बेटा भगीरथ ! यदि कोई मेरे प्रवाह को झेलने मे समर्थ है, तो एक शकर है। मैं भगवान् विष्णु के चरण का त्याग करके निकलूँगी, तो शंकर को भी थोड़ा सोचना पड़ जायगा। लेकिन शकर यदि चाहें, तो वे मुझे झेल सकते हैं। इसलिए तू शंकर के पास जा।" गंगा ने कहा और वह अन्तर्द्धान हो गईं।

भगीरथ शंकर के पास गया और तप करने लगा। शकर ने प्रसन्न होकर वरदान दिया। भगीरथ ने माँगा--"देवाधिदेव ! मेरे साठ सहस्र काका कपिल मुनि के क्रोध से जल कर भस्म हो गये है। उनके उद्धार के लिए हम आज तीन पीढ़ी से तप कर रहे है। अबकी गगादेवी हम पर प्रसन्न हुई हैं, और अपने अमृत से मेरे काकाओ का उद्धार करने को तैयार है।"

"तो फिर तुम क्या माँगना चाहते हो ?" भगवान् शंकर बोले।

"प्रभो ! गंगाजी पृथ्वी पर आने के लिए तो तैयार ही है, किन्तु उनका भार वहन करने को कोई तैयार नही।" भगीरथ ने कहा।

"गंगा इतनी भारी हे ?"

"माताजी तो कहती थी कि यदि वे सीधी पृथ्वी पर पड़ें, तो पृथ्वी रसातल को चली जाय।"

"बात तो सच है; अकेली पृथ्वी में इतनी शक्ति नही।"

"इसीलिए मै आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप गंगामैया का भार वहन करना स्वीकार करें। तभी वह पतित-पावनी देवी पृथ्वी पर पधार सकेगी, और तभी मेरे पुरखों का उद्धार हो सकेगा।"

"बेटा भगीरथ ! तेरी तपश्चर्या को देखते हुए तो मैं तू जो कहे, करने को तैयार हूँ, और गंगा को भी झेल लूँगा। किन्तु........"शंकर जरा रुके।

भगीरथ कह उठा—"सो तो माताजी भी कहती थीं कि शंकर को भी सोचना तो पड़ेगा ही !"

"अच्छा ? मुझे, शकर को भी, सोचना पड़ जायगा ?" शंकर ने कहा। "मालूम होता है, गंगा मुझको भूल गई है। जा। अपनी गंगा से कहना, शंकर तैयार है; वह खुशी से उतरे। शंकर उसे अपनी जटा में झेल लेगा।"

भगीरथ वापस गंगाजी के पास पहुँचा और उनसे कहा कि शंकर ने उनका भार झेलना स्वीकार किया है।

और गंगा निकली। भगवान् विष्णु के दाहिने पैर के अँगूठे से निर्मल अमृत बहने लगा; और वह श्वेत स्रोत नाचता, कूदता, आकाश को चीरता, देवों को चकित करता, पवन में क्रीड़ा करता, उछलता, नीचे को उतरने लगा।

पृथ्वी पर भगवान् शंकर उसे झेलने खड़े हैं। उनकी कमर में व्याघ्रचर्म है, गले में रुण्डमाल है, दोनों हाथ कटि पर टिकाये हैं, आँखें ऊपर आकाश को तक रही हैं। गंगाजी शंकर की जटा में समाई, सो समाई ! भगीरथ शंकर भगवान् के समीप प्रतीक्षा करता खड़ा है; किन्तु गंगा कहाँ ? वह जटा में से बाहर क्यों नहीं निकल रहीं ? घड़ी बीती। दो घड़ी बीतीं। भगीरथ तो घबराने लगा।

"हे गंगामैया ! बाहर पधारो। यह दीन सेवक आपकी बाट जोहता खड़ा है।" भगीरथ ने आर्त्त स्वर से कहा।

किन्तु गगा तो जटा में उलझ गई थीं वे बाहर किस तरह निकलतीं ? क्या शंकर की जटा में से निकलना सरल था ? गंगाजी

जटा में ख़ूब भटकने लगीं; पर कहीं मार्ग मिले तब न ? कैसे भी हों, आख़िर थे तो शंकर न ?

"मैंने शंकर का तिरस्कार किया था, कहीं उसीका तो यह परिणाम नहीं ?" गंगाजी थक गई। उनकी खिसियाहट का पार न रहा। जब उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई, तो कहीं बड़ी मुश्किल से उन्हें रास्ता सूझा और वे बाहर निकलीं।

फिर तो आगे-आगे भगीरथ और पीछे गंगाजी। हरद्वार के पास से होकर अटकती-भटकती गंगा की वह धारा कपिल के आश्रम के निकट पहुँची और भगीरथ के साठ हज़ार काकाओं की भस्म को भिगोकर पवित्र करती हुई आगे बढ़ गई, और अन्त में समुद्र से जा मिली। इस प्रकार सगर के साठ हज़ार पुत्र स्वर्ग सिधारे।

भगीरथ की लाई हुई इन भागीरथी का जल आज भी उसी तरह प्रवाहित है, और वैसा ही पतित-पावन है।

: १६ :

वीरभद्र

उमा दक्ष प्रजापति की पुत्री थीं। प्रजापति दक्ष की पुत्रियों का पार न था। उनके जमाइयों को देखो, तो बड़े-बड़े दिग्गज लोग! दक्ष की सत्ताईस लड़कियाँ तो अकेले चन्द्र से ब्याही गई थीं; तेरह कश्यप को दी गई थीं और दो कृशाश्व को। ऐसे बड़े-बड़े जमाइयों के ससुर बन-कर दक्ष बहुत ही प्रतिष्ठित बन गये थे। भगवान् शंकर ही एक ऐसे जमाई थे, जो दक्ष को दुश्मन-से लगते थे—बुरी तरह खटकते थे। दक्ष बिलकुल नहीं चाहते थे कि उनकी प्यारी उमा शंकर को अपना पति बनाये। एक तो शंकर दीखने में अशोभन, स्वभाव के अलमस्त और खान-पान में भाँग-धतूरे के शौकीन! दक्ष के समान प्रजापति की कन्या ऐसे शंकर से शादी करे तो दक्ष दुनिया को क्या मुंह दिखाये? किन्तु उमा के दृढ़ निश्चय के सामने दक्ष दीन बन गये। उमा की यह अटल प्रतिज्ञा थी कि 'ब्याह तो शंकर से ही करूंगी', और अन्त में उन्होंने शंकर से ही ब्याह किया।

लेकिन ब्याह एक बार हुआ सो हुआ। विवाह के बाद लड़की ससुराल जाती है, ससुराल में धीरे-धीरे हिलने-मिलने लगती है, वहाँ के जीवन से समरस होती है, बाल-बच्चे होते हैं, घर में मन रम जाता है, फिर भी मायका तो आखिर मायका ही है। पिता के घर की तुलना

क्या ? दुनिया में दूसरा कोई पीहर बन सकता है ? किन्तु उमा के भाग्य में मायके का सुख, पीहर का आनन्द, नहीं बदा था। उन्होंने तो दक्ष का महल एक बार जो छोड़ा, सो छोड़ा। फिर वे थी, उनका कैलास था, और थे कैलासपति ! न कहीं जाना, न आना। दक्षप्रजापति के घर उनकी दूसरी पुत्रियां आतीं और रहतीं, किन्तु उमा तो शंकर के साथ फेरे फिर कर जो गई, सो फिर कभी उन्होंने दक्ष की दहलीज नहीं देखी !

आज दक्ष के घर यज्ञ शुरू हुआ था। देश-विदेश से ब्राह्मण बुलाये गये थे; स्वर्ग से देव आये थे; दल-के-दल यक्ष और किन्नर आ पहुँचे थे; नद, नदियों और सरोवरों का पानी मँगाया गया था; देश-विदेश के राजा आये थे, दूर पास के देशों से दर्शनार्थियों की भीड आ पहुँची थी; बेटियाँ आईं, जमाई आये; समधी आये, समधिनें आईं। न आई एक उमा। हज़ारों लोग कैलास के पास से जाते थे, और जाते जाते पूछते थे—"क्यों बहन ! अभी तक यहीं हो ? पिता के घर दो दिन पहले जाना चाहिये न ?"

एक ने आकर कहा—"बहन ! पिता के घर से कोई बुलावे की राह देखता है ?"

दूसरी आई और बोली—"घर तो रोज़ की चीज है न ? पीहर कहीं रोज़-रोज़ जाया जाता है ?"

तीसरी आई और कहने लगी—"उमा ! क्या तुम्हें अपनी सगी माँ की भी याद नहीं आती ? चलो, मेरे साथ चलो।"

उमा किसी से कुछ कहती न थीं; उन्होंने अपना मुँह सी लिया था, किन्तु मन की विकलता तो बढ़ती ही जाती थी।

यज्ञ के दिन समीप आने लगे। एक दिन रात के समय शंकर की शय्या के पास बैठे-बैठे उमा कहने लगीं—"महाराज ! मुझे यज्ञ में जाने की अनुमति दीजिए।"

"देवि ! बिना बुलाये ?" शंकर ने कहा।

"हाँ, सो मैं समझती हूँ। किन्तु अब और निमंत्रण की प्रतीक्षा करने की इच्छा नहीं होती।" उमा की साँस में गरमी आ रही थी।

"उमा तुम भूल करोगी—धोखा खाओगी। जो पिता तुम्हारा मुह तक देखना नहीं चाहता, उसके घर इस तरह जाना हितकर नहीं है।" शंकर ने कहा।

"मुझे भी मेरे अन्दर बैठा हुआ कोई बराबर मना कर रहा है। फिर भी दिल होता है कि चलूँ, एक बार हो आऊँ। मेरी जननी वहाँ है, फिर मेरे लिए वहाँ अडचन किस बात की ? मुझे रोकिए मत। जाने दीजिए। आप स्वयं चाहे न आइए।" उमा ने आग्रह के साथ कहा।

"मुझे तो जाना ही नहीं है। तुम भी न जाओ तो अच्छा हो।"

"लेकिन मैं तो जाऊँगी। इतने-इतने वर्ष बीत गये, मैंने कभी जाने का नाम लिया है ? आज इच्छा होती है कि मुझे जाना ही चाहिए। जिसके पेट में नौ महीने रही, उसकी आँखों में अपने लिए जगह न देखूंगी, तो वहीं जल मरूँगी, किन्तु जाऊँगी ज़रूर। आप मुझे मात्र अनुमति दीजिए।" उमा ने आकुल भाव से कहा।

"तो अच्छी बात है, जाओ ! जो दैव ने सोचा होगा, सो होकर रहेगा। इन दो गणों को अपने साथ लेती जाओ; संभव है, कभी इनका कोई काम पड़ जाय।"

तो उमा चलीं। उन्होंने हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों को एक बार जी भर कर देख लिया; कैलास को, प्यारे कैलास को फिर से

एक बार अपनी आँखों में समा लिया, एक पल भर अपने शंकर को हृदय की किसी निगूढ़ गुहा में स्थापित कर लिया, और फिर वेग से खाई की ओर दौड़ने वाली पहाड़ी नदी की तरह सती पर्वत से नीचे उतरने लगी।

उमा दक्ष के राज्य में पहुँची, उमा दक्ष की राजधानी में आई, उमा ने दक्ष के महलों में प्रवेश किया, उमा दक्ष प्रजापति की यज्ञ-भूमि में उपस्थित हुई। दक्ष अपनी स्त्री के साथ एक बड़ी चौकी पर बैठे-बैठे होम कर रहे थे; घी की आहुतियों से अग्नि प्रज्वलित हो रही थी; उमा अपने माता-पिता के ठीक सामने जाकर खड़ी हो गई। उमा को देखते ही दक्ष ने मुँह फेर लिया, ओंठ चबा लिये; किन्तु माँ की आँखें हँस पड़ी: "कौन, बेटी उमा! आओ, इधर आओ, बिटिया!" माँ ने हाथ से संकेत करके उमा को अपने पास बुलाया।

दक्ष से यह देखा न गया। वह तुरन्त ही दहाड़ उठे:

"इसे यहाँ किसने बुलाया था? यहाँ इसका क्या काम है? कह दो इससे कि वापस चली जाय। मालूम होता है, यह इस यज्ञ को पूरा होने देना नहीं चाहती। वह जोगी तो नहीं आया है न?"

एक बहन माँ के पास दौड़ती हुई आई और बोली—"माँ, माँ, जीजी आई।"

दक्ष और भी भिन्ना उठे। आहुति डालना छोड़ दिया और गरजे—"बड़ी जीजी वाली आई है। तुम्हें जीजी-दीदी करना हो, तो तुम भी अपना रास्ता पकड़ो। किसने बुलाया था इस पापिनी को? लगता है, सुख से यज्ञ करने देना नहीं चाहती।"

"पिताजी!" उमा ने धीमे स्वर से पकारा।

दक्ष ज्यों के त्यों बैठे रहे।

"पिताजी !"

दक्ष ने आँखे मूँद ली।

"पिताजी !"

"यह बिटिया तुम्हें पुकार रही है न ?" उमा की माँ ने कहा।

"मैं इसका बाप नहीं। मुझे इससे कोई काम नहीं। जहाँ से आई है, वहीं वापस चली जाय।"

"किन्तु बिटिया को ऐसा कैसे कह सकते है ?"

"तो तुम भी इसके साथ चली जाओ, और कैलास में जाकर बसो। वहाँ माँ-बेटी दोनों की अच्छी पटेगी।"

"पिताजी।"

"पिताजी।"

"पिताजी।" तीसरी बार उमा ने कहा।

दक्ष से न रहा गया--"पिताजी, पिताजी, क्यों चिल्ला रही है ? बाप के घर आये बिना मन न माने, तो मर जाना अच्छा है। आज कौन मुँह लेकर तू यहाँ आई है ?"

"मेरी बिटिया से यह सब न कहो ! तुम अपना यज्ञ करो; मैं इसे लेकर अन्दर जाती हूँ।"

"कहाँ ले जाती हो ? खबरदार ! एक बार मर जाय, तो बला टले।"

उमा के रोंगटे खड़े हो गये; उसके अन्तर में ज्वाला धधक उठी। उसे हिमालय की याद आई, कैलास की याद आई, अपने प्यारे शंकर की याद आई। पिता के वचन असह्य हो उठे।

"पिताजी !"

किन्तु जवाब कौन दे ?

"पिताजी ! सुनिये। आपकी प्यारी उमा के ये अन्तिम शब्द हैं। आपकी आज्ञा है, इसलिए मैं तो यह चली। मैंने आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ा; आपकी आज्ञा का अनादर नहीं किया; ऐसा कोई आचरण नहीं किया, जिससे आपके कुल को बट्टा लगे। केवल मैं हृदय से शंकर को चाहती थी, इसलिए मैंने उनसे विवाह किया। और, आज जब जीवन के किनारे खड़ी हूँ, तब भी यही मनाती और माँगती हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में शंकर ही मुझे मिलें। पिताजी ! मैं तो लड़कियों के ऐसे व्यवहार पर आपत्ति करने वाले निरंकुश पिताओं पर परमात्मा का शाप पड़ता देख रही हूँ। पिताजी ! यह दीन पुत्री आपको अन्तिम प्रणाम करती है। प्यारी माँ ! तुम विकल न होना; मेरी दूसरी बहनों को देखकर मन को दिलासा देना। भगवान् तुम्हारा सबका कल्याण करे !"

देखते-देखते उमा के दाहिने पैर के अँगूठे से अग्नि प्रकट हुई, और सती सुलगने लगी। यज्ञ थम गया। दक्ष सुलगती हुई उमा की ओर देखा किये; उमा की माँ स्तब्ध रह गई; ब्राह्मण सब त्रस्त हो उठे, और एक क्षण में जहाँ पहले स्त्री की देह खड़ी थी, वहाँ राख की ढेरी भर रह गई !

दक्ष ने गला साफ़ करते हुए कहा—"यज्ञ का काम आगे चलने दो।"

यज्ञ के आचार्य बोले—"महाराज ! आपके चित्त को क्षोभ पहुँचा हो, तो शेष आहुतियाँ कल दे देंगे। अभी आप पधारिये।"

"इसकी कोई आवश्यकता नहीं। लड़की की माँ को जाना हो, तो वह जाये। हमें अपना यज्ञ चलाना ही है। वह गई तो भले गई—एक कम हुई ! क्या इस तरह अँगूठे से अग्नि प्रकट होते देख दक्ष डर

जायगा ? मेरा क्या बिगड़ा, उलटे उस जोगी का घर उजड़ा ?" दक्ष का वास्तविक रूप प्रकट हो गया।

शंकर ने उमा के साथ जिन दो गणो को भेजा था, वे सीधे शंकर के पास पहुँचे और उन्हे सारे समाचार सुनाये।

शंकर ने कहा—"ये सब समाचार मुझे एक बार फिर सुनाओ।"

गणो ने सभी समाचार दुबारा कह सुनाये।

शंकर फिर बोले—"अभी एक बार और मुझे ये समाचार कह जाओ। देखना भला, एक भी बात छूटने न पाये।"

गणो ने फिर उन्ही समाचारो को दोहराया, और शंकर ने उन्हे जी भरकर सुना।

"अच्छा; तो उमा ने अपने पिता से एक भी कड़ुई बात न कही ?"

"जी नही।"

"अपने पिता को उनकी भूल भी न दिखाई ?"

"जी नही। वह तो बार-बार पिताजी, पिताजी, रटती रही। उन्होंने अपने पिता को पुकारते-पुकारते अपना गला सुखा दिया।"

"तो भी उस पापी का हृदय नही पसीजा ?"

"जी नही। उलटे उन्होने तो कहा, क्या मरना नही जानती ?"

"जानती है, दक्ष ! मरना जानती है। सती ने मरकर दिखाया है कि वह मरना जानती है।" शंकर का कोप-सागर संक्षुब्ध हो उठा। उनकी आँखों में, उनके हाथों में, उनके सारे शरीर में, भयंकर हलचल मच गई। "सती ने मरना जाना है। उमा, उमा ! तू गई ? यों नितान्त निर्दोष रहकर गई ? अपने पिता को कुछ तो चमत्कार दिखाना था ? किन्तु तू ने तो मरना जाना !"

कुछ देर बाद शंकर थोड़े स्वस्थ हुए और पूछने लगे--"अच्छा, तो फिर यज्ञ का क्या हुआ ?"

"यज्ञ तो फिर शुरू हुआ और चल रहा है। आचार्य ने तो एक दिन आहुति बंद रखने की बात कही थी, पर दक्ष ने कहा-"इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

शंकर फिर उछले; "हूँ······? तो यज्ञ अभी चल रहा है ? उमा जल मरी, और यज्ञ ज्यों का त्यों चल रहा है ? दक्ष, दक्ष ! तेरे पाप का घड़ा भर चुका है। चलूं, मैं ही यज्ञ में जाऊँ।"

शंकर की आँखों से आग बरसने लगी। उनके रोएं-रोएँ से क्रोध फूटने लगा। उनकी चाल से धरती थरथराने लगी। उनकी जटा में मानो प्राणों का संचार हो गया।

ज्यों ही शंकर यज्ञ-भूमि में पहुँचे, सारे गाँव मे और मण्डप मे हाहाकार मच गया। दक्ष अपने आसन पर से दहाड़े--"मारो, इस जोगी को; डरो मत ! इससे कह दो--'तेरी उमा गई, और अब तेरी बारी है !"

इतने में तो शंकर यज्ञ-वेदी के पास पहुँच गये। वेदी पर बैठे हुए ब्राह्मण पटापट भागने लगे; दक्ष अपने आसन पर खड़ा-खड़ा हाथ उछाल-उछाल कर चिल्लाने लगा।

शंकर एक अक्षर भी नहीं बोले। उनका सारा शरीर क्रोध से काँप रहा था; उनकी आँखों से खून बरस रहा था। शंकर ने वेदी के पास पहुँचकर भयंकर हुँकार की, और साथ ही वेदी पर अपनी जटा पछाड़ी। तत्काल एक विचित्र पुरुष वहाँ उत्पन्न हो गया--विकराल मुँह, काला शरीर, बड़े-बड़े दाँत, लोहे के समान मजबूत हाथ-पैर और विशाल छाती !

"महाराज ! क्या आज्ञा है ?" उस पुरुष ने हाथ जोड़कर पूछा।

उसका नाम था, वीरभद्र ।

शंकर आँख से संकेत करके लौट पड़े । संकेत पाते ही वीरभद्र दक्ष पर झपटा और उसका गला पकड़ लिया ।

"किन्तु मैंने तो उमा को हाथ भी नहीं लगाया भाई !"

"दक्ष ! तू सती का पिता है, इस विचार से मेरा हाथ ढीला पड़ रहा है; किन्तु तूने मुझे पहचाना ?"

"हाँ, हाँ; तू राक्षस है न ?"

"नहीं, नहीं; मै साधारण राक्षस नही । मै उन राक्षसों मे नहीं हूँ, जिन्हें तेरे ब्राह्मण वेद मंत्र से डरा सके । मैं तो वीरभद्र हूँ । जहाँ-जहाँ पवित्र मनुष्य का अकारण बलिदान होता है, वहाँ-वहाँ उस बलिदान की राख में से मेरा जन्म होता है । जिस समाज में सन्त पुरुषों को बिना कारण सताया जाता है, वहाँ एक-न-एक दिन मुझे जन्म लेना ही पड़ता है । जिस राज्य में ग़रीब प्रजा को अकारण पीड़ा पहुँचाई जाती है, वहाँ भी एक दिन मुझे अपने बाल बिखेरकर उठ खड़ा होना पड़ता है । जिन परिवारों में ग़रीब, असहाय औरतों को मूक भाव से मरना पड़ता है, वहाँ भी मुझे जन्म लेना पड़ता है । आज इस उमा के समान पवित्र बेटी को तूने अकारण जलने दिया, यह देखकर मुझे यहाँ आना पड़ा है ।"

दक्ष ने गिड़गिड़ा कर कहा--"भाई, तुम मुझे एक बार माफ़ नही करोगे ? देखो, अब तो तुम्हारे शंकर भी चले गये है ।"

"नहीं, यह संभव नही । मेरे जन्म से पहले तूने मेरे जन्म को रोकने का यत्न किया होता, तो वैसा हो सकता था । तू उमा को रोक सकता था; उमा के भस्म होने पर तू पश्चात्ताप कर सकता था; शंकर से प्रार्थना कर सकता था । यह सब तेरे बस का था, तेरी मर्यादा में

था। अब तो चूँकि मैं पैदा हो चुका हूँ, इसलिए तुझे मरना ही होगा, तेरे ब्राह्मणों को भागना ही होगा। अब तेरा यज्ञ छिन्न-भिन्न हुए बिना रह नहीं सकता, तेरे कुल का सर्वनाश रुक नहीं सकता, और यज्ञ-भूमि का रक्तस्नान थम नहीं सकता। यह सब तो अब होकर ही रहेगा। उमा की मृत्यु से उत्पन्न इन परिणामों को रोकने की शक्ति किसी में नहीं।"

"किन्तु अब भी मैं शंकर से क्षमा माँग लूँ तो?"

"अब वह समय बीत गया। अब तो बाज़ी शंकर के हाथ में भी नहीं रही!" इन शब्दों के साथ वीरभद्र ने दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया, कुछ ब्राह्मणों को घायल किया, कुछ को मार डाला; यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, और सारे नगर में हाहाकार मचा दिया। क्षण भर पहले जहाँ धर्म दीखता था, वहाँ अधर्म फैल गया; व्यवस्था का स्थान अव्यवस्था ने ले लिया; जहाँ श्री और लक्ष्मी विराजती थी, वहाँ क्रूर दैत्य आ बिराजा, जहाँ ब्राह्मण फिरते वहाँ ढेढ़-भंगी नज़र आने लगे, और चारों तरफ़ ऐसी अराजकता फैल गई, मानो प्रलय काल समीप आ पहुँचा हो।

दक्ष की समूची राजधानी को महान् स्मशान बनाकर वीरभद्र ने अपना अवतार-कार्य समाप्त किया।

हिन्दी मंदिर की

अन्य पुस्तकें

१. स्वप्न
२. पथिक
३. मिलन
४. दिव्य जीवन
५. आगे बढ़ो
६. आधुनिक भारत
७. महाभारत के पात्र ३ भाग
८. फांसी
९. शिवाजी की योग्यता
१०. कविता कौमुदी

मूल्य

डेढ़ रुपया